स्वामी विवेकानन्दजा
से
वार्तालाप

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,

धन्तोली, नागपुर

मई १९५६]

[मूल्य १।≈)

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ३५ वाँ

मुद्रक—
डी. पी. देशमुख,
बजरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, नागपुर-२

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण है। स्वामी विवेकानन्दजी का विभिन्न व्यक्तियों के साथ समय-समय पर अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर जो वार्तालाप हुआ था, वह इस पुस्तक में लिपिबद्ध है। ये वार्तालाप धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक विषयों पर हैं। इनमें स्वामीजी ने यह दर्शाया है कि वास्तव में भारतीय संस्कृति का क्या अर्थ है; साथ ही उन्होंने वे मार्ग तथा साधन भी दर्शाये हैं, जिनसे हमारी इस संस्कृति का पुनरुत्थान हो सकता है। उनकी ओजपूर्ण तथा प्रोत्साहनयुक्त वाणी में सचमुच वह सजीवनी है, जिससे हमारा समस्त जीवन सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित होकर हम एक महान् उच्च आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं।

इस पुस्तक का अनुवाद-कार्य स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्दजी, उत्तरकाशी, ने किया है। उनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

हमें विश्वास है, इस पुस्तक से हिन्दी-जनता का हित होगा।

नागपुर,
दि. १-५-१९६६

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप

लन्दन में भारतीय योगी

(वेस्ट मिनुस्टर गजेट, २३ अक्टूबर, १८९५ ई.)

कुछ वर्षों से यहाँ अर्थात् इंगलैण्ड के बहुत से लोगों के हृदय में भारतीय दर्शन गम्भीर तथा दिनोंदिन बढ़नेवाले प्रभाव का विस्तार कर रहा है। परन्तु आज तक जिन लोगों ने इस देश में उस दर्शन की व्याख्या की, उनकी चिन्तन-प्रणाली और शिक्षा-दीक्षा पूरी तरह पाश्चात्य भावों में रँगी रहने के कारण वेदान्त-तत्त्व के गम्भीर रहस्यों के सम्बन्ध में वास्तव में लोगों को बहुत ही थोड़ी जानकारी प्राप्त हुई है; और जो कुछ हुई भी, वह भी इने-गिने व्यक्तियों तक ही सीमित है। प्राच्य भाव से शिक्षित-दीक्षित एवं प्राच्य भावों में पले हुए योग्य आचार्यगण वेदान्त-शास्त्र से जिस गम्भीर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं, उस ज्ञान-भंडार को उन शास्त्रों के अनुवाद से प्राप्त करने की अन्तर्दृष्टि और साहस बहुतों में नहीं होता, क्योंकि वे अनुवाद-ग्रन्थ प्रधानतः शब्द-शास्त्रज्ञों के लिए ही उपयुक्त होने के कारण, सर्वसामान्य के लिए कठिन होते हैं।

एक संवाददाता हमको लिखते हैं—"उपर्युक्त कारणों से—कुछ तो वास्तविक जिज्ञासा के साथ और कुछ कौतूहल के वश हो—मैं स्वामी विवेकानन्द से भेंट करने गया था; क्योंकि पाश्चात्यों के लिए तो वे एक प्रकार से नितान्त नवीन ही प्रतीत होनेवाले वेदान्त-धर्म के प्रचारक हैं। वे सचमुच एक

महान् भारतीय योगी हैं। युग-युगान्तर से संन्यासी और योगीगण शिष्य-परम्परा से जिस विद्या का प्रचार करते रहे हैं, उसी की व्याख्या करने के लिए वे निर्भीक और निःसंकोच हो इस पाश्चात्य भूखण्ड में आये हुए हैं, एवं उसी उद्देश्य से उन्होंने कल रात को प्रिन्सेस हॉल में एक भाषण भी दिया था।

स्वामी विवेकानन्द के सिर पर पगड़ी शोभायमान थी, मुख पर शान्ति और प्रसन्नता झलक रही थी; उनके दर्शन मात्र से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि इनमें कुछ विशेषता है।

मैंने पूछा, "स्वामीजी, क्या आपके नाम का कुछ अर्थ है ? यदि हो, तो क्या आप कृपया हमें बतायँगे ?"

स्वामीजी—अब मैं जिस (स्वामी विवेकानन्द) नाम से परिचित हूँ, उसके प्रथम शब्द का अर्थ है संन्यासी, अर्थात् जिसने विधिपूर्वक संसाराश्रम का परित्याग कर संन्यासाश्रम को स्वीकार किया हो। दूसरा शब्द (विवेकानन्द) एक उपाधि मात्र है। संसार त्याग देने के बाद मैंने इस नाम को ग्रहण किया है। सभी संन्यासी ऐसा करते हैं। इसका अर्थ है—विवेक का अर्थात् सदसद्विचार का आनन्द।

मैंने फिर पूछा, "अच्छा, स्वामीजी, संसार के सारे लोग जिस राह पर चलते हैं, आपने उसका त्याग क्यों कर दिया ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "बाल्यकाल से ही धर्म और दर्शन-चर्चा में मेरी विशेष रुचि थी। हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि त्याग ही मनुष्य का श्रेष्ठतम आदर्श है। बाद में श्रीरामकृष्ण परमहंस नामक एक उन्नत और महान् धर्माचार्य से मेरी भेंट हुई। मैंने देखा कि मेरे जीवन का जो सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, उसे

होने अपने जीवन में उतार लिया है। इसलिए उनसे साक्षात्कार होने के बाद मुझमें यह प्रबल इच्छा जागृत हो गयी कि वे जिस राह पर चल रहे हैं, मैं भी उसी पर चलूँ। तब मैंने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।"

"तब तो वे एक सम्प्रदाय की स्थापना कर गये होंगे और आप इस समय उनके ही प्रतिनिधिरूप होंगे?"

स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, साम्प्रदायिकता और कट्टरता के कारण आध्यात्मिक संसार में सर्वत्र जिस गम्भीर व्यवधान की सृष्टि हो गयी है, उसको दूर करने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया था। उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। उलटे उससे नितान्त विपरीत ही किया है। जनसाधारण जिससे पूर्णतया स्वतन्त्र चिन्तनपरायण हो सके, इस ओर उनका पूरा-पूरा ध्यान था, और इसके लिए वे प्राणों की भी बाजी लगाकर प्रयत्न करते रहे। वे वास्तव में एक महान् योगी थे।"

प्रश्न—तब तो इस देश के किसी समाज या सम्प्रदाय के साथ आपका कुछ भी सम्बन्ध न होगा? जैसे—थियोसॉफिकल सोसाइटी, क्रिश्चियन साइन्टिस्ट * अथवा अन्य कोई सम्प्रदाय?

---

* Christian Scientists—अमेरिका के एक धर्म-सम्प्रदाय का नाम है। श्रीमती एडी नामक एक अमेरिकन महिला इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठात्री हैं। इनके मतानुसार रोग, दुःख, पाप आदि मन के भ्रम मात्र हैं; इसलिए हमें यदि दृढ़ विश्वास हो जाय कि 'हममें कोई भी रोग नहीं है,' तो हम अवश्य रोगमुक्त हो जायेंगे। ये लोग कहते हैं कि हमीं वास्तव में ईसा के मत का पालन कर रहे हैं; और वे (ईसा) जिस अलौकिक उपाय से रोगी को रोगमुक्त कर देते थे, हम भी पूर्वोक्त दृढ़ विश्वास के बल से वैसा कर सकते हैं।

उनके उपदेशों को मैं कहीं भी प्रमाणरूप से उपस्थित नहीं
ता, और न तो मैं यही दावा करता हूँ कि किसी गुप्त
क या हस्तलिखित ग्रन्थ से मैंने कोई गुप्त विद्या सीखी है।
तो मैं किसी गुप्त-समिति का सदस्य हूँ और न मैं उस प्रकार
समिति से संसार का किसी प्रकार कल्याण होने का विश्वास
रखता हूँ। सत्य स्वयंप्रमाण है। उसे अँधेरे में छिपकर रहने
कोई आवश्यकता नहीं, वह तो अनायास ही दिवालोक को
न कर सकता है।"

मैंने पूछा, "तो, स्वामीजी, आपके मन में कोई समाज
वा समिति प्रतिष्ठित करने का संकल्प नहीं है?"

उत्तर—नहीं, मैं कोई भी समिति या समाज नहीं खड़ा
ना चाहता। मैं तो केवल उसी आत्मा का उपदेश करता हूँ,
सब प्राणियों के हृदय में गूढ़ भाव से अवस्थित है और जो
की अपनी सम्पत्ति है। यदि कुछ दृढ़चेता पुरुष आत्मज्ञान की
प्ति कर उसे अपने दैनन्दिन जीवन में उतार लें, तो प्राचीन
ों की तरह, अभी भी वे सारी दुनिया में हलचल मचाकर
सका रूप बदल दे सकते हैं। प्राचीन काल में एक-एक दृढ़चित
ापुरुष अपने-अपने समय में ऐसे ही एक-एक नवीन युग का
र्तन कर गये हैं।

मैंने फिर पूछा, "स्वामीजी, आप क्या भारत से यहीं
ल ही में आये हैं?" (क्योंकि उनका मुख देखने से प्राच्य देश
। प्रचण्ड सूर्य-किरणों की याद आती है।)

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "नहीं, सन् १८९३ ई० में
मेरिका के शिकागो शहर में जो धर्म-महासभा का अधिवेशन
आ था, उसमें मैंने हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। तब से

स्वामीजी ने स्पष्ट और हृदयस्पर्शी स्वर में उत्तर दिया "नहीं, तनिक भी नहीं। (स्वामीजी का मुख ऐसा सरल अकपट और सद्भावपूर्ण है कि जब वे बोलते हैं, तो उनका मुखमण्डल बालक की तरह खिल उठता है)। अपने गुरु के उपदेशों के आलोक में मैंने अपने प्राचीन शास्त्रों को जैसा समझा है, मैं बस उसी की शिक्षा देता हूँ। अलौकिक उपाय से प्राप्त किसी अलौकिक विषय की शिक्षा देने का दावा मैं नहीं करता। मेरे उपदेशों में विचारशील व्यक्ति अपनी तीव्र विचार-बुद्धि से जो कुछ भी ग्रहण योग्य समझें, लोग यदि उतना ग्रहण कर लें, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।"

वे कहते चले—"सभी धर्मों का लक्ष्य है किसी विशेष मानव-जीवन को आदर्शस्वरूप मानकर स्थूल भाव से भक्ति, ज्ञान अथवा योग की शिक्षा देना। इन आदर्शों का अवलम्बन कर भक्ति, ज्ञान और योग सम्बन्धी जो सब भाव तथा साधना-प्रणालियाँ प्रचलित हैं, वेदान्त उन्हीं का विज्ञान-स्वरूप है। मैं तो इसी विज्ञान का प्रचार करता हूँ और इस पर जोर देता हूँ कि इस विज्ञान की सहायता से, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने आदर्श को समझ ले। मैं प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी अभिज्ञता को ही प्रमाणरूप से ग्रहण करने का उपदेश देता हूँ। और जहाँ मैं किसी ग्रन्थ का प्रमाणरूप से उल्लेख करता हूँ, वहाँ समझना होगा कि थोड़ा यत्न करने से ही वह ग्रन्थ प्राप्त किया जा सकता है, तथा इच्छा रहने से प्रत्येक स्वयं उसे पढ़ ले सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि साधारण लोगों के लिए सर्वथा अदृश्य रहनेवाले अलौकिक महात्मा जो किसी व्यक्ति को माध्यम बनाकर अपने उपदेश का प्रचार करते हैं, उनके प्रति विश्वास

या उनके उपदेशों को मैं कहीं भी प्रमाणरूप से उपस्थित नहीं करता, और न तो मैं यही दावा करता हूँ कि किसी गुप्त पुस्तक या हस्तलिखित ग्रन्थ से मैंने कोई गुप्त विद्या सीखी है। न तो मैं किसी गुप्त-समिति का सदस्य हूँ और न मैं उस प्रकार की समिति से संसार का किसी प्रकार कल्याण होने का विश्वास ही रखता हूँ। सत्य स्वयंप्रमाण है। उसे अँधेरे मे छिपकर रहने की कोई आवश्यकता नहीं, वह तो अनायास ही दिवालोक को सहन कर सकता है।"

मैंने पूछा, "तो, स्वामीजी, आपके मन में कोई समाज अथवा समिति प्रतिष्ठित करने का संकल्प नही है?"

उत्तर—नही, मैं कोई भी समिति या समाज नहीं खड़ा करना चाहता। मै तो केवल उसी आत्मा का उपदेश करता हूँ, जो सब प्राणियों के हृदय में गूढ़ भाव से अवस्थित है और जो सबकी अपनी सम्पत्ति है। यदि कुछ दृढ़चेता पुरुष आत्मज्ञान की प्राप्ति कर उसे अपने दैनन्दिन जीवन में उतार लें, तो प्राचीन युगों की तरह, अभी भी वे सारी दुनिया में हलचल मचाकर उसका रूप बदल दे सकते हैं। प्राचीन काल में एक-एक दृढ़चित्त महापुरुष अपने-अपने समय में ऐसे ही एक-एक नवीन युग का प्रवर्तन कर गये हैं।

मैंने फिर पूछा, "स्वामीजी, आप क्या भारत से यहाँ हाल ही में आये हैं?" (क्योंकि उनका मुख देखने से प्राच्य देश की प्रचण्ड सूर्य-किरणों की याद आती है।)

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "नही, सन् १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में जो धर्म-महासभा का अधिवेशन हुआ था, उसमें मैंने हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। तब से

मैं युक्तराष्ट्र अमेरिका में भ्रमण करते हुए धर्म-प्रचार के लिए वक्तृताएँ दे रहा हूँ। अमेरिकन-जाति विशेष आग्रह के साथ मेरे व्याख्यान सुन रही है, और मेरे साथ परम मित्र की नाईं व्यवहार कर रही है। वहाँ मेरा कार्य इतना जम गया है कि मुझे शीघ्र ही वहाँ लौट जाना पड़ेगा।"

प्रश्न—स्वामीजी, पाश्चात्य धर्ममतों के विषय में आपकी क्या राय है?

उत्तर—मैं एक ऐसे दर्शन का प्रचार कर रहा हूँ, जो संसार के सारे धर्ममतों की भित्ति हो सकता है। मैं उन सबके साथ पूर्ण सहानुभूति रखता हूँ, मेरा उपदेश किसी धर्म का विरोधी नहीं है। मैं व्यक्तिगत जीवन की उन्नति की ओर ही विशेष ध्यान रखता हूँ, उसे तेजस्वी बनाने की चेष्टा करता हूँ। मैं तो यही शिक्षा देता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का अंश या साक्षात् ब्रह्म है, और सर्वसाधारण को उनके इसी आभ्यन्तरिक ब्रह्मभाव के सम्बन्ध में सचेत होने के लिए आवाहन करता हूँ। जानकर हो या बिना जाने, वस्तुतः यही सब धर्मों का आदर्श है।

प्रश्न—इस देश में आपका कार्य किस प्रकार का होगा?

उत्तर—मैं ऐसी आशा करता हूँ कि मैं कुछ व्यक्तियों को पूर्वोक्त रीति से शिक्षा दूँगा, और उन्हें अपने-अपने ढंग से दूसरों के पास उस सत्य का प्रचार करने के लिए उत्साहित करूँगा। वे फिर मेरे उपदेशों को अपनी इच्छानुसार चाहे जितना ही रूपान्तरित करें, कोई हानि नहीं। मैं ऐसी कोई शिक्षा नहीं दूँगा, जिसे जबरन मान लेना पड़े; क्योंकि मैं जानता हूँ, अन्त में सत्य की ही जय होती है।

"मैं प्रकट रूप से जो सब कार्य कर रहा हूँ, उसके

संचालन का भार मेरे दो-एक बन्धुओं पर है। २२ अक्टूबर की शाम को साढ़े आठ बजे 'पिकेडली प्रिन्सेज हॉल' में अँगरेज श्रोताओं के लिए उन्होंने मेरे एक भाषण की योजना की है। चारों तरफ इस विषय की घोषणा की जा रही है। विषय है मेरे द्वारा प्रचारित वेदान्त-दर्शन का मूल तत्त्व—'आत्मज्ञान'। उसके बाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो भी उपाय दिखेंगे, मैं उनका अवलम्बन करने के लिए तैयार हूँ। लोगों के बैठक-खाने में या अन्य किसी स्थान की सभा में उपस्थित होना, पत्र का उत्तर देना अथवा साक्षात् ही विचार-विनिमय करना इत्यादि सब कुछ करने को मैं प्रस्तुत हूँ। इस अर्थलिप्सा-प्रधान युग में मैं इस बात को सबसे पहले ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा कोई भी कार्य अर्थ-प्राप्ति के लिए नहीं है!"

इसके बाद मैंने उनसे (स्वामीजी से) विदा ली। आज तक जितने मनीषियों के साथ मेरी भेंट हुई है, उनमें ये सबसे अधिक मौलिक-भाव-सम्पद् के अधिकारी हैं, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं।

भारत का जीवन-व्रत

(सण्डे टाइम्स, लन्दन, सन् १८९६ ई.)

इँगलैण्ड के निवासी भारत के "प्रवाल देश"* में धर्म-प्रचारकों को भेजते हैं, इस बात को इँगलैण्ड की जनता अच्छी तरह जानती है। "सारे संसार में पर्यटन करते हुए इस शुभ-समाचार का प्रचार करो"--महात्मा ईसा की इस वाणी का वे ऐसी पूर्णता से पालन करते हैं कि इँगलैण्ड के प्रधान-प्रधान धर्म-सम्प्रदायों में से कोई भी उनके इस आदेश के अनुसार कार्य करने में पीछे नहीं रहता। परन्तु भारत भी इँगलैण्ड में धर्म-प्रचारक भेजता है, इस बात को यहाँ की साधारण जनता प्रायः नहीं जानती।

सेन्ट जार्ज रोड, साउथ-वेस्ट, ६३ नं. भवन में स्वामी विवेकानन्द कुछ समय के लिए वास कर रहे हैं। दैवयोग से (यदि 'दैव' शब्द के प्रयोग में किसी को आपत्ति न हो तो) वहाँ पर स्वामीजी से मेरा साक्षात्कार हो गया। वे क्या काम कर रहे थे और इँगलैण्ड में पधारने का उनका क्या प्रयोजन था, इत्यादि विषयों पर वार्तालाप करने में उन्हें कोई आपत्ति न रहने के कारण, मैं वहाँ उपस्थित होकर उनसे इन विषयों पर वार्तालाप करने लगा। वे मेरी प्रार्थना स्वीकार कर मेरे साथ इस प्रकार वार्तालाप करने को तैयार हो गए इस पर पहले मैंने आश्चर्य व्यक्त किया। उन्होंने कहा--

---

* Coral Strands--प्राचीन समय में जब कि भारत के साथ पाश्चात्य देशों का विशेष परिचय नहीं था, तब पाश्चात्य जातियों में भारत के विषय में यही धारणा थी कि भारतवर्ष के समुद्र-तट पर प्रवाल ही प्रवाल पाये जाते हैं। यह कथन इसी धारणा के कारण प्रचलित हुआ है।

"अमेरिका में निवास करते समय से ही इस प्रकार संवाद-पत्र के प्रतिनिधियों से भेंट करने का मुझे पूरा अभ्यास हो गया है। हमारे देश में यद्यपि इस प्रकार की रीति नहीं है, फिर भी अन्य देशों में पहुँचकर सर्वसाधारण को अपनी बातों से परिचित कराने के लिए उस देश की प्रचार की प्रचलित प्रथाओं का अवलम्बन न करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। सन् १८९३ ईसवी में अमेरिका के शिकागो नगर में संसार की धर्म-महासभा का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें मैं हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधि होकर गया था। मैसूर के राजा एवं अन्य कुछ सज्जनों ने मुझे वहाँ भेजा था। अपने विचार से मैं अमेरिका में कुछ सफलता का दावा भी कर सकता हूँ। शिकागो शहर के अतिरिक्त अमेरिका के अन्यान्य बड़े-बड़े शहरों में भी मैं कई बार आमन्त्रित किया गया। एक लम्बे अरसे से मैं अमेरिका में रह रहा हूँ। गत वर्ष ग्रीष्म ऋतु में मैं एक बार इँगलैण्ड आया था, और इस वर्ष भी, आप देख ही रहे हैं कि मैं यहाँ आया हुआ हूँ। अब तक लगभग तीन वर्ष मैं अमेरिका में रहा। मेरी समझ में अमेरिका की सभ्यता बहुत उच्चकोटि की है। मैंने देखा कि अमेरिकन जाति का चित्त अनायास ही नूतन भावधारा के साथ परिचित हो जाता है। वह किसी बात को नयी समझकर ही एकदम त्याग नहीं देती, वरन् पहले उसके वास्तविक गुण-दोषों को परखती है और फिर उसकी त्याज्यता अथवा ग्राह्यता का निर्णय करती है।"

प्रश्न—तो क्या आपके कहने का मतलब यह है कि इँगलैण्ड के लोग अन्य प्रकार के हैं?

उत्तर—हाँ, इँगलैण्ड की सभ्यता अमेरिका की सभ्यता

पुरानी है। सदियों से लेकर आज तक उसमें कितने ही नये-नये विषयों के संयोजन से उसका विकास हुआ है। इसी प्रकार उसमें कुछ कुसंस्कार भी आ मिले हैं। उनको दूर करना होगा। अभी जो कोई भी आपके बीच किसी नवीन सत्य का प्रचार करना चाहेगा, उसे तो उन कुसंस्कारों की ओर विशेष दृष्टि रखकर काम करना होगा।

प्रश्न—लोग ऐसा कहते अवश्य हैं। अच्छा, जहाँ तक मुझे मालूम है. अमेरिका में आपने किसी नये धर्म-सम्प्रदाय या धर्ममत की प्रतिष्ठा नहीं की है।

उत्तर—आपका कहना सत्य है। सम्प्रदायों की संख्या में वृद्धि करना हमारी नीति के विरुद्ध है, क्योंकि सम्प्रदायों की संख्या दुनिया में आवश्यकता से कहीं अधिक ही है। फिर, सम्प्रदाय के संचालन के लिए आदमी भी चाहिए। अब विचार कर देखिए कि जिन्होंने संन्यास का अवलम्बन कर लिया है, अर्थात् सांसारिक पद-मर्यादा, विषय-सम्पत्ति, नाम-यश आदि सभी कुछ छोड़ दिया है, जिन्होंने केवल आध्यात्मिक ज्ञान के अन्वेषण को ही अपने जीवन का एकमात्र व्रत समझा है, वे इस प्रकार के कार्य का भार भला किस तरह ले सकते हैं? और जब वैसे काम अन्य दूसरे लोग कर ही रहे हैं, तो फिर उन कामों में हाथ डालना निष्प्रयोजन ही है।

प्रश्न—आपकी शिक्षा क्या धर्मों की तुलनात्मक समालोचना करना है?

उत्तर—यदि कहूँ कि वह 'सब प्रकार के धर्मों के सार की शिक्षा देना' है, तो इससे मेरी शिक्षा के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट धारणा हो सकती है। धर्मों के गौण अंगों को छोड़कर

उनमें जो मुख्य भाग है अर्थात् जिस पर वे प्रतिष्ठित हैं, उसी की ओर विशेष रूप से दृष्टि आकर्षित करना ही मेरा कार्य है। मैं श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का एक शिष्य हूँ। वे एक सिद्ध महापुरुष थे। उनके आचरण और उपदेशों ने मुझ पर गम्भीर प्रभाव डाला था। ये संन्यासी-श्रेष्ठ कभी किसी धर्म को समालोचना की दृष्टि से नहीं देखते थे—'अमुक-अमुक धर्मों में अमुक-अमुक भाव ठीक नहीं हैं' ऐसी बात वे कभी नहीं कहते थे। बल्कि उनमें जो कुछ उत्तम है, उसी को वे दिखा दिया करते थे, यह दर्शा देते थे कि किस प्रकार उनका अनुष्ठान कर उनके उन भावों को हम अपने जीवन में उतार सकते हैं। किसी धर्म से विरोध करना, या किसी धर्म का प्रतिपक्षी होना—यह उनकी शिक्षा के नितान्त विरुद्ध है, क्योंकि उनकी शिक्षा की मूल भित्ति ही यह थी कि सम्पूर्ण जगत् प्रेम के बल से परिचालित हो रहा है। आप जानते हैं कि हिन्दू-धर्म ने कभी भी किसी दूसरे धर्म पर अत्याचार नहीं किया। हमारे देश में सभी सम्प्रदाय आपस में प्रेम रखते हुए शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ ही भारत में धर्म के नाम पर हत्या, अत्याचार आदि का प्रवेश हुआ है। उनके आने के पूर्व तक भारत का आध्यात्मिक वातावरण शान्ति-पूर्ण था। दृष्टान्तस्वरूप देखिए, जैन लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते; इतना ही नहीं, वे इस आस्तिकता को भ्रान्ति कहकर प्रचार भी करते हैं; पर तो भी उनके अपने मतानुसार धर्मानुष्ठान करने में किसी ने कभी कोई बाधा खड़ी नहीं की, और आज तक वे भारत में शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं। वास्तव में भारत ने ही इस विषय में शान्ति और

मृदुतारूपी यथार्थ वीरता का परिचय दिया है। युद्ध, हठकारिता, दुःसाहसिकता, प्रबल आघात करने की शक्ति—ये सब धर्म-जगत् में दुर्बलता के ही चिह्न हैं।

प्रश्न—आपकी बातों से टॉलस्टाय* की याद आती है। हो सकता है, व्यक्तिविशेष के लिए यह मत अनुसरणीय हो सके—यद्यपि इसमें भी मेरा व्यक्तिगत सन्देह है—परन्तु समग्र जाति के लिए इस नियम या आदर्श का पालन करना कैसे सम्भव है?

उत्तर—जाति के लिए भी यह आदर्श उत्तम काम देगा। देखा जाता है कि अन्य जातियों द्वारा विजित होना और तत्पश्चात् कालान्तर में उन्हीं जातियों पर धर्मबल से जय प्राप्त करना मानो भारत का कर्मफल, भारत का भाग्य रहा है। भारत ने अपने मुसलमान विजेताओं को धर्म के बल से

---

* Count Leo Tolstoi—ये रूस के निवासी, प्रसिद्ध परहितकारी, चिन्तनशील लेखक तथा समाज-सस्कारक थे। १८२८ ईसवी में रूस के मास्को शहर से १३० मील की दूरी पर किसी गाँव में इनका जन्म हुआ था; और १९१३ ईसवी में ये परलोक सिधारे। लगभग अर्ध शताब्दी तक इनके निःस्वार्थ जीवन का प्रभाव समग्र मानव-जाति पर असर करता रहा। दरिद्रों के प्रति उनकी यथार्थ हार्दिक सहानुभूति का परिचय १८६१ ईसवी में मिलता है। उस समय उन्होंने अपनी जमींदारी के अन्तर्गत सारे गुलामों को मुक्त कर दिया और किसान-मजदूरों के लिए विद्यालयों की स्थापना करके स्वयं ही उनको चित्र-विद्या, सगीत-विद्या तथा बाइबिल के इतिहास की शिक्षा देने लगे। 'अनिष्टकारी के प्रति अन्याय का आचरण न कर सदय व्यवहार करो'—महात्मा ईसा के इस महान् उपदेश को उन्होंने अपने जीवन में परिणत कर लिया था, और अपने ग्रन्थों में वे इसी तत्त्व का बारम्बार प्रचार कर गए हैं। सारे संसार में युद्ध आदि बन्द हो जाय और सर्वत्र शान्ति प्रतिष्ठित हो—यही उनके

जीत ही लिया है। सभी शिक्षित मुसलमान सूफी* हैं। उनको हिन्दुओं से पृथक् करना कठिन है। हिन्दू भाव उनकी सभ्यता की नस-नस में समा गया है। उन्होंने भारत के सम्मुख शिक्षार्थी का भाव धारण किया है। मुगल सम्राट् अकबर भी सारतः एक हिन्दू ही थे। फिर जब इंगलैण्ड की बारी आयगी, तो उसे भी भारत जीत लेगा। आज इंगलैण्ड के हाथ में तलवार है, परन्तु भाव-जगत् में उसकी कोई उपयोगिता नहीं, बल्कि उससे अपकार ही हुआ करता है। आप जानते हैं कि

जीवन का प्रधान लक्ष्य था। वे चाहते थे कि उनकी सारी सम्पत्ति गरीबों को दान कर दी जाय, परन्तु उनकी यह इच्छा परिवारवालों ने पूर्ण नहीं होने दी। सन् १८९२ ईसवी में उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने स्त्री-पुत्रों को सौंप दी और स्वयं सामान्य कृषक के वेश में जीवन बिताने लगे। जीवन की अन्तिम अवस्था में संसार के साथ सारे सम्बन्ध तोड़कर वे संन्यासी की तरह बाहर निकल पड़े। उनकी इच्छा थी कि अन्तिम अवस्था में निर्जन में रहकर यथार्थ ईसाई की तरह जीवन व्यतीत करूँ। घर से बहुत दूर, किसी मठ में कुछ काल निवास करने के बाद और भी निर्जन स्थान के लिए उन्होंने यात्रा शुरू कर दी। परन्तु रास्ते की भयानक कठिनाइयों के फलस्वरूप किसी अपरिचित रेलवे स्टेशन में वे प्रबल ज्वर और कफरोग से ग्रसित हो गये। अन्त में उसी बीमारी से वे चल बसे। इस विलासिता के युग में वे ऋषि सदृश थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने यथार्थ अहिंसा-धर्म के मर्म की उपलब्धि कर ली थी।

* सन् ८२० ईसवी में आबु सैयद आबुलख द्वारा प्रतिष्ठित मुसलमान सम्प्रदाय-विशेष का नाम। इस सम्प्रदाय के मत के साथ मुहम्मद की शिक्षा की अपेक्षा वेदान्तोक्त अद्वैतवाद का ही अधिक सादृश्य देखा जाता है। उनके मतानुसार जीव अपने प्रेम के बल से अन्त में भगवान में लीन हो जाता है, और तदनुसार वे साधनादि भी किया करते हैं। इनमें बहुत से तो पूरे अद्वैतवादी हैं। त्याग और वैराग्य इनके मुख्य

शोपेनहॉवर † ने भारतीय भाव और चिन्तन के विषय में क्या कहा है। उन्होंने ऐसी भविष्यवाणी की थी कि 'तमोयुग'* के बाद यूनानी और लैटिन विद्या का उदय होने से यूरोप में जैसा महान् परिवर्तन हुआ था, भारतीय भावराशि का यूरोप में प्रचार होने पर फिर वैसा ही महान् परिवर्तन होगा।

प्रश्न—कृपया क्षमा कीजिए; पर अभी तो इसके कोई लक्षण नहीं दिख रहे हैं।

स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "भले न दिखते हों। पर यह भी तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यूरोप के उस प्राचीन 'जागरण' ‡ के समय बहुतों को पहले

अनेक पण्डितों के मत से भारतीय वेदान्त के प्रभाव से इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई है। मुसलमानों के द्वारा भारत विजित होने के बाद भारतवासियों के साक्षात् सम्पर्क में आने से इस मत की विशेष पुष्टि हुई थी इसमें सन्देह नहीं।

† Schopenhaur (शोपेनहॉवर)—जर्मनी के एक विख्यात, दार्शनिक। सुविख्यात दार्शनिक कॅण्ट (Kant) के अनुयायी होकर, उन्हीं के मत का विकास-साधन करने पर भी, उनके दर्शन में भारतीय वेदान्त का प्रभाव सुस्पष्ट है। उपनिषदों के फारसी अनुवाद का फिर जो लैटिन अनुवाद हुआ था, उसका अध्ययन करके वे उपनिषदों के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। और उसके लिए वे कितने ऋणी हुए इसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में बारम्बार किया है। इनके मतानुसार समग्र जगत् एक इच्छाशक्ति का विकास मात्र है, और ब्रह्मचर्य तथा संयमादि के बल से वासना का नाश करके उस अपार इच्छारूपी समुद्र में अपनी क्षुद्र इच्छा का विलय करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

* Dark Age—पाँचवी सदी से लेकर पन्द्रहवीं सदी तक, जब यूरोप अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छन्न था।

‡ Renaissance—पन्द्रहवीं सदी के पश्चात् जब यूरोप में साहित्य,

उसके कुछ भी चिह्न नहीं दिखायी दिये थे, और उस जागरण का आविर्भाव हो जाने पर भी बहुत से लोग यह समझ न सके थे कि उसका आगमन हो चुका है। पर जो लोग समय के लक्षणों को अच्छी तरह पहचानते हैं, वे यह भलीभाँति समझ रहे हैं कि आजकल अन्दर-ही-अन्दर एक महान् आन्दोलन चल रहा है। फिलहाल कुछ वर्षों से प्राच्य-तत्त्वानुसन्धान बहुत आगे बढ़ गया है। वर्तमान समय में यह विद्वानों के हाथ में है, और उन्होंने इस दिशा में जितना कार्य किया है, वह अभी लोगों की दृष्टि में शुष्क और नीरस प्रतीत हो रहा है। पर धीरे-धीरे लोग समझेंगे—उनमें ज्ञान का प्रकाश फैलेगा।"

प्रश्न—तब तो आपके मत में भविष्य में भारत ही श्रेष्ठ विजेता का स्थान प्राप्त करेगा। परन्तु भारत तो अन्य देशों में अपनी भावराशि का प्रचार करने के लिए अधिक धर्म-प्रचारक नहीं भेजता। शायद जब तक सारी पृथ्वी आकर उसके चरणों पर नहीं गिर जाती, तब तक वह प्रतीक्षा करता रहेगा!

उत्तर—प्राचीन काल में भारत धर्मप्रचार-कार्य का एक प्रबल केन्द्र बना हुआ था। इँगलैण्ड के ईसाई मत ग्रहण करने के सैकड़ों वर्ष पहले ही बुद्ध ने सम्पूर्ण एशियाखण्ड को अपने मत में लाने के लिए सर्वत्र धर्म-प्रचारक भेजे थे। वर्तमान समय में संसार की चिन्ताधारा धीरे-धीरे भारतीय भावधारा को अपना रही है। परन्तु यह तो अभी केवल प्रारम्भ है। किसी विशेष धर्ममत को अपनाने की इच्छा न रखनेवालों की संख्या बढ़ रही है, और यह भाव शिक्षित समुदायों के भीतर

शिल्प आदि की चर्चा का पुनरभ्युदय हुआ, उस काल को इतिहास में इस नाम से संबोधित करते हैं।

फैलता जा रहा है। फिलहाल अमेरिका में जो जन-गणना हुई थी, उसमें बहुत से लोगों ने अपने को किसी सम्प्रदायविशेष के अन्तर्भुक्त करने से इन्कार कर दिया था। सत्य तो यह है कि सारे धर्म एक ही मूल सत्य के विभिन्न प्रकाश हैं। होगी तो सभी की उन्नति होगी; नहीं तो सभी नष्ट हो जायँगे। विभिन्न प्रकृतिवाले मानव-मन उसी एक सत्य को भिन्न-भिन्न रूपों में देखना चाहते हैं, और ये सब धर्म मानो उसी मूल सत्यस्वरूप केन्द्र से विभिन्न त्रिज्याओं की नाईं निकले हुए हैं। अतः धर्मों की यह विभिन्नता विभिन्न प्रकृतिवाले मानव-मन के लिए आवश्यक है।

प्रश्न—अब हम मूल प्रसंग के समीप आ रहे हैं। वह मूल या केन्द्रीभूत सत्य क्या है?

उत्तर—मनुष्य की आभ्यन्तरिक ब्रह्मशक्ति ही वह मूल सत्य है। हर एक मनुष्य, चाहे वह कितनी ही बुरी प्रकृति का क्यों न हो, भगवान का ही प्रकाश है। यह ब्रह्मशक्ति आवृत रहती है—जीवों की दृष्टि से छिपी हुई रहती है। यहाँ पर मुझे भारतीय गदर की एक घटना याद आती है। किसी मुसलमान ने वर्षों से मौनव्रतधारी एक संन्यासी पर प्राणान्तक आघात किया। लोग उस आततायी को उनके पास घसीट लाये और कहा, 'स्वामीजी, आपके मुख से केवल एक शब्द की ही देर है कि हम इसे मौत के घाट उतार देंगे।' तब उस महात्मा ने अपने दीर्घकाल के मौनव्रत को भंग कर अपने अन्तिम श्वास के साथ कहा, 'प्यारे बच्चो, तुमने बहुत बड़ी गलती की है। यह व्यक्ति तो साक्षात् भगवान है!' कहने का तात्पर्य यह है कि सबके पीछे यह एकत्व विद्यमान है।

यही जीवन में सीखने की सबसे बड़ी बात है। उसे फिर 'गॉड' कहिए, या अल्लाह, जिहोवा या प्रेम अथवा आत्मा, जो कुछ भी कहिए, वही एक वस्तु क्षुद्रतम कीट से लेकर महत्तम मानव तक समस्त प्राणियों में प्राणरूप से विराजमान है। बर्फ से ढके एक समुद्र की कल्पना कीजिए, जिसमें विभिन्न आकारवाले बहुत से छेद हैं। प्रत्येक छेद मानो एक-एक आत्मा, एक-एक मनुष्य है, जो अपनी बुद्धि की शक्ति के तारतम्यानुसार बन्धन काटकर—इस बर्फ को फोड़कर—बाहर आने का प्रयत्न कर रहा है।

प्रश्न—मुझे प्रतीत होता है, प्राच्य और पाश्चात्य दोनों जातियों के लक्ष्यों में एक विशेष प्रभेद है। आप लोग संन्यास, एकाग्रता आदि उपायों से बहुत उन्नत व्यक्तित्व को गठन करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जबकि पाश्चात्य देशों के हम लोग समाज की पूर्णता की सिद्धि में ही लगे हुए हैं। इसी कारण हम सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को हल करने में ही अधिक जोर लगा रहे हैं, क्योंकि हमारी समझ में तो सर्व-साधारण के कल्याण पर ही हमारी सभ्यता का स्थायित्व निर्भर करता है।

स्वामीजी ने बड़ी दृढ़ता और आग्रह के साथ उत्तर दिया, "पर मनुष्य की साधुता ही सामाजिक तथा राजनीतिक सर्वविध विषयों की सफलता का आधार है। पार्लमेन्ट द्वारा बनाये गये कानूनों से ही कोई राष्ट्र भला या उन्नत नहीं हो जाता। वह उन्नत तब होता है, जब वहाँ के मनुष्य उन्नत और सुन्दर स्वभाववाले होते हैं। मैं चीन गया था। किसी समय चीनी जाति सर्वोत्तम सुनियन्त्रित थी, परन्तु आज वही मनुष्यों

की एक अव्यवस्थित समष्टि-सी बनी हुई है। इसका कारण यह है कि उस देश के शासन-कार्य के लिए प्राचीन काल में जिन उपायों का अवलम्बन किया गया था, उस शासनप्रणाली के यथाविधि परिचालन में समर्थ व्यक्तियों का वर्तमान समय में उस जाति में अभाव हो गया है। धर्म सभी विषयों की जड़ तक पहुँचकर उनके यथार्थ स्वरूप का अन्वेषण करता है। मूल यदि ठीक रहे, तो अंग-प्रत्यंग सभी ठीक रहते हैं।"

प्रश्न—'भगवान सभी के भीतर विद्यमान हैं, परन्तु वे आवृत रहते हैं', यह कथन तो मानो अस्पष्ट एवं व्यावहारिक जगत् से बहुत दूर मालूम होता है। लोग तो हमेशा उस ब्रह्म-प्रकाश की ओर देखते नहीं रह सकते ?

उत्तर—बहुधा लोग एक ही उद्देश्य से कर्म में प्रवृत्त होते हैं, पर वह समझ नहीं पाते। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कानून, सरकार या राजनीति मानव-जीवन का चरम उद्देश्य नहीं है। इन सबके परे एक ऐसा चरम लक्ष्य है, जहाँ पहुँचने पर कानून या विधि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। यहाँ कह दूँ, 'संन्यासी' शब्द का अर्थ है विधि का परित्याग करने-वाला ब्रह्म-तत्त्वान्वेषी, अथवा संन्यासी शब्द का अर्थ 'नेतिवादी' (Nihilist) ब्रह्मज्ञानी भी हो सकता है। परन्तु ऐसे शब्द का प्रयोग करते ही एक भ्रमात्मक धारणा आ उपस्थित होती है। सभी महान् आचार्य एक ही शिक्षा देते हैं। ईसा मसीह जानते थे कि कानून का प्रतिपालन ही उन्नति का मूल नहीं है, बल्कि पवित्रता और सच्चरित्रता ही वीर्यलाभ का एकमात्र उपाय है। ...ने जब कहा कि प्राच्य देश आत्मा की उच्चतर उन्नति की ओर पाश्चात्य देश सामाजिक अवस्था की उन्नति की ओर

दृष्टि रखता है, तो आप इस बात को अवश्य न भूले होंगे कि आत्मा दो प्रकार की है। एक तो कूटस्थ चैतन्य, जो कि आत्मा *का यथार्थ स्वरूप है; और दूसरा आभास चैतन्य, जिसे हम ऊपरी दृष्टि से आत्मा समझते हैं।*

प्रश्न—तो क्या आपका तात्पर्य यह है कि हम पाश्चात्य-वासी आभास के उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं और आप प्राच्यजन प्रकृत चैतन्य के उद्देश्य से?

उत्तर—मन अपने उच्चतर विकास के लिए विविध सोपानों में से अग्रसर होता है। वह पहले स्थूल का अवलम्बन करके धीरे-धीरे सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ता है। और भी देखिए, मनुष्य किस प्रकार विश्व-बन्धुत्व की धारणा पर पहुँचता है। पहले यह विश्व-बन्धुत्व का भाव साम्प्रदायिक भ्रातृभाव के रूप से प्रकट होता है—तब वह संकीर्ण और सीमाबद्ध रहता है, उसमें दूसरों से अलगाव की वृत्ति रहती है। बाद में हम धीरे-धीरे उदारतर और सूक्ष्मतर भाव में पहुँचते हैं।

प्रश्न—तो आप यह समझते हैं कि हम अँगरेजों के इतने प्रिय ये सब सम्प्रदाय लुप्त हो जायेंगे? आप शायद जानते होंगे कि एक फ्रांसीसी ने कहा है, 'इंगलैण्ड—हजार सम्प्रदायों का देश, पर सबकी एक ही रुचि।'

उत्तर—इन सम्प्रदायों के लोप हो जाने के विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। उनका अस्तित्व असार और गौण विषयों पर प्रतिष्ठित है। उनमें जो कुछ मुख्य या सार है, वही बच रहेगा; और उसकी बुनियाद पर एक नये भवन का निर्माण होगा। आपको वह प्राचीन उक्ति याद होगी,

[illegible] ऐसा सम्भव है, परन्तु [illegible] नहीं।'

प्रश्न— क्या [illegible] इंग्लैण्ड में आपके कार्य का विस्तार होता जा रहा है ?

उत्तर— धीरे धीरे हो रहा है। [illegible] कारण तो पहले ही बता चुका हूँ। जहाँ [illegible] होता है, वहाँ [illegible] विस्तार [illegible] हो ही जाता है। [illegible] आवश्यकता नहीं कि [illegible] धर्म भावना का विस्तार होता है। और [illegible] है कि अब इन बातों के प्रचार का ठीक समय उपस्थित हो गया है।

इसके बाद स्वामीजी ने [illegible] अपने कार्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया। कई प्राचीन धर्मों की तरह इस मत की शिक्षा बिना शुल्क ही दी जाती है। जो इस मत का अवलम्बन करते हैं, उनकी स्वेच्छापूर्वक दी हुई सहायता से ही इस कार्य का निर्वाह होता है।

प्राच्य वेश-भूषा से शोभायमान स्वामीजी की आकृति अतीव मनोहर है। संन्यास के विषय में लोगों की साधारणतः जो धारणा है, स्वामीजी का सरल और सहृदय व्यवहार देखकर उसका बिलकुल उदय नहीं होता। वे स्वभावतः ही प्रियदर्शन हैं। फिर उसके साथ उनके उदार भाव, अँगरेजी भाषा पर असाधारण प्रभुत्व, वार्तालाप की अद्भुत शक्ति आदि ने उनको और भी अधिक प्रिय बना दिया है। उनके संन्यास-व्रत का अर्थ है—नाम-यश, धन-सम्पत्ति, पद-मर्यादा आदि का सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अविराम चेष्टा करना।

भारत और इँगलैण्ड

(इण्डिया, लन्दन, १८९६)

यह लन्दन के मौसम * का समय है। स्वामी विवेकानन्द के मत और दर्शन के प्रति बहुत से लोग आकृष्ट हो गए हैं। वे उन लोगों के सम्मुख वक्तृताएँ देते हैं, उनको अपने मत और दर्शन की शिक्षा देते हैं। बहुत से अँगरेज यह सोचते हैं कि फ्रान्स के छोटे-मोटे प्रयत्न को छोड़कर धर्म-प्रचार (मिशनरी-कार्य) का एकाधिकार इँगलैण्ड को ही प्राप्त है। अतएव मैं दक्षिण बेलग्रेविया में स्वामीजी के अस्थायी निवासस्थान पर यह पूछने के उद्देश्य से गया कि भारतवर्ष इँगलैण्ड को सम्भवतः और क्या सन्देश भेज सकता है; क्योंकि वैसे तो हम आज तक भिन्न-भिन्न विषयों पर भारतवर्ष की इँगलैण्ड के विरुद्ध शिकायत ही सुनते आये हैं; उदाहरणार्थ, होमचार्ज†, एक ही व्यक्ति के हाथ में न्याय और शासन का संचालन रहना, तथा सूडान एवं अन्य देशों पर युद्ध-आक्रमण के आय-व्यय की मीमांसा आदि।

स्वामीजी स्थिरता के साथ बोले, "भारत का यहाँ धर्म-प्रचारक भेजना कोई नयी बात नहीं है। जब बौद्ध-धर्म नवीन उत्साह से अभ्युदित हो रहा था, जब भारत के पास अपने

---

* London Season—पाश्चात्य देशों में बड़े-बड़े शहर के रहनेवाले धनी और भद्र परिवार के स्त्री-पुरुष ग्रीष्मकाल में शहर के बाहर घूमने चले जाते हैं। जिस समय वे सब शहर में रहते हैं, उसी समय को वहाँ का मौसम (Season) कहते हैं। मई, जून और जुलाई महीने लन्दन के 'मौसम का समय' हैं।

† Home Charge—भारत पर राजसत्ता होने के कारण प्रति वर्ष जो धन इँगलैण्ड को भेजा जाता है।

चारों ओर के देशों को शिक्षा देने के लिए कुछ था, उस समय सम्राट् अशोक चारों ओर धर्म-प्रचारक भेजा करते थे।"

प्रश्न---अच्छा, क्या यह पूछा जा सकता है कि भारत ने उस तरह धर्म-प्रचारक भेजना क्यों बन्द कर दिया था, और अब फिर से क्यों वैसा कर रहा है?

उत्तर---धर्म-प्रचारक भेजना बन्द करने का कारण यह था कि भारत धीरे-धीरे स्वार्थपर हो गया, यह रहस्य भूल गया कि व्यक्ति और जातियाँ परस्पर आदान-प्रदान की प्रणाली से ही जीवित रहती और उन्नति करती हैं। भारत ने सर्वदा संसार को एक ही सन्देश सुनाया है। भारत का सन्देश आध्यात्मिक रहा है---अनन्त युग से भारत का एकाधिकार आभ्यन्तरिक भावराज्य में ही रहा है। सूक्ष्म विज्ञान, दर्शन, न्याय---ये ही भारत के विशेष क्षेत्र हैं। वस्तुतः, मेरा इँगलैण्ड में धर्मप्रचार-कार्य के लिए आगमन तो, इँगलैण्ड के भारत में गमन का ही फलस्वरूप है। इँगलैण्ड भारत पर विजय प्राप्त करके उस पर शासन कर रहा है और अपने भौतिक विज्ञान का उपयोग अपने एवं हम

आत्मा-स्वरूप है--उसके एक देह है। अवश्य ये सब जातीय चिन्तन-तरंग पर के छोटे-छोटे बुलबुले हैं, पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आपकी जातीय भावधारा किस ओर जा रही है। मैं आपको शोपेनहॉवर की भविष्यवाणी की याद दिला दूँ। उन्होंने कहा है कि तमोयुग का अन्त होने पर यूनानी और लैटिन विद्या का उदय होने से यूरोप में जैसा महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ था, भारतीय दर्शन यूरोप में अच्छी तरह परिचित हो जाने पर फिर से वैसा होगा। प्राच्य तत्त्वों का अन्वेषण प्रबल वेग से अग्रसर हो रहा है। सत्यान्वेषियों के सम्मुख नूतन भावधारा का द्वार उन्मुक्त हो रहा है।

प्रश्न—तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि अन्त में भारत अपने विजेताओं को जीत लेगा ?

उत्तर—हाँ, *भावराज्य में अवश्य ऐसा होगा। अभी* इँगलैण्ड के हाथ में तलवार है, वह अभी जड़-जगत् का प्रभु है, जैसे कि अँगरेजों के आगमन से पहले हमारे मुसलमान-विजेता थे। परन्तु सम्राट् अकबर तो वास्तव में एक हिन्दू ही बन गये थे। शिक्षित मुसलमानों अर्थात् सूफियों से हिन्दुओं को सहज ही पृथक् नहीं किया जा सकता। सूफी लोग गोमांस-भक्षण नहीं करते और बहुत से विषयों में हमारे आचार-व्यवहारों का अनुसरण करते हैं। हमारी विचारधारा उनकी विचारधारा की नस-नस में समा गई है।

प्रश्न—आपके मत में क्या प्रबल प्रतापशाली अँगरेजों की भी वही दशा होगी, जैसी मुसलमानों की हुई थी ? आज तो वैसी सम्भावना बहुत दूर मालूम होती है।

उत्तर—नहीं, आपको जितनी दूर मालूम हो रही है,

वास्तव में उतनी दूर नहीं है। धार्मिक विषय में अँगरेज और हिन्दुओं में बहुत सादृश्य है। और दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के साथ भी हिन्दुओं का ऐक्य है, इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। जब किसी अँगरेज शासनकर्ता या किसी सिविल सर्वेन्ट को भारतीय साहित्य, और विशेष कर भारतीय दर्शन का थोड़ासा भी ज्ञान हो जाता है, तो देखा जाता है कि वह ज्ञान ही हिन्दुओं के प्रति उसकी सहानुभूति का कारण बन जाता है। इस प्रकार की सहानुभूति दिनों-दिन बढ़ रही है। पर अभी भी कुछ लोग भारतीय भाव को अत्यन्त संकीर्ण, यहाँ तक कि कभी-कभी अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। यदि कहा जाय कि इसका कारण केवल उनका अज्ञान है, तो यह कोई अनुचित आक्षेप न होगा।

प्रश्न--हाँ, यह तो अज्ञान का ही परिचायक है। आप एक बात बतलायेंगे--धर्म-प्रचार के लिए पहले इँगलैण्ड न आकर आप अमेरिका क्यों गये?

उत्तर--वह केवल एक आकस्मिक घटना थी। विश्व-महामेला के समय विश्वधर्म-सम्मेलन लन्दन में न होकर शिकागो में हुआ था, इसलिए मुझे वहाँ जाना पड़ा। परन्तु उस महा-सम्मेलन का अधिवेशन तो वास्तव में लन्दन में ही होना उचित था। मैसूर के महाराजा तथा अन्य कतिपय सज्जनों ने मुझे हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ भेजा था। मैं वहाँ तीन वर्ष रहा--केवल गत वर्ष ग्रीष्मकाल में वक्तृता देने यहाँ आया था, और इस गरमी में भी आया हुआ हूँ। अमेरिकन लोग एक बड़ी जाति हैं; उनका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। उनके प्रति मेरी विशेष श्रद्धा है; उनमें मुझे कई सहृदय बन्धु मिले। ँरेजों की तुलना में उनके कुसंस्कार कम हैं--वे किसी भी

नवीन भाव की परख करने के लिए अधिक प्रस्तुत रहते हैं, उसकी नवीनता के बावजूद भी उसका आदर करने के लिए तैयार रहते हैं। फिर वे बड़े अतिथि-परायण भी हैं। लोगों का विश्वास-पात्र होने के लिए वहाँ अपेक्षाकृत कम समय लगता है। मेरे समान आप भी अमेरिका के शहर-शहर में घूमकर वक्तृता दे सकते हैं—सब जगह आपको मित्र-प्रेमी मिलते रहेंगे। मैं बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, बाल्टिमोर, वाशिंगटन, डेसमोनिस, मेमफिस आदि अनेक स्थानों में गया था।

प्रश्न—और प्रत्येक स्थान में आपने बहुत से शिष्य भी कर लिये होंगे?

उत्तर—हाँ, शिष्य किये हैं; पर किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की है। वह मेरे कार्य के अन्तर्गत नहीं है। समाज या समितियाँ तो संसार में पहले से ही बहुतसी हैं। इसके अतिरिक्त, सम्प्रदाय गठन करने पर उसकी व्यवस्था के लिए योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। फिर धन भी आवश्यक होता है, क्षमता भी और योग्य संचालनकर्ता भी। बहुधा भिन्न सम्प्रदायवाले अधिकार हथियाने के लिए कोशिश करते हैं, और कभी-कभी तो आपस में लड़ाई भी कर बैठते हैं।

प्रश्न—तो क्या आपके धर्म-प्रचार का संक्षेप में यही मतलब है कि आप केवल विभिन्न धर्मों की पारस्परिक तुलनात्मक आलोचना कर उसी का प्रचार करना चाहते हैं?

उत्तर—मैं तो धर्म के दार्शनिक तत्त्व का ही प्रचार करना चाहता हूँ। धर्मविषयक बाह्य अनुष्ठानों का जो सार तत्त्व है, उसी का मैं प्रचार करना चाहता हूँ। सभी धर्मों में एक मुख्य और एक गौण भाग होता है। उन गौण भागों को

वास्तव में उतनी दूर नहीं है। धार्मिक विषय में अँगरेज और हिन्दुओं में बहुत सादृश्य है। और दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के साथ भी हिन्दुओं का ऐक्य है, इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। जब किसी अँगरेज शासनकर्ता या किसी सिविल सर्वेन्ट को भारतीय साहित्य, और विशेष कर भारतीय दर्शन का थोड़ासा भी ज्ञान हो जाता है, तो देखा जाता है कि वह ज्ञान ही हिन्दुओं के प्रति उसकी सहानुभूति का कारण बन जाता है। इस प्रकार की सहानुभूति दिनों-दिन बढ़ रही है। पर अभी भी कुछ लोग भारतीय भाव को अत्यन्त संकीर्ण, यहाँ तक कि कभी-कभी अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। यदि कहा जाय कि इसका कारण केवल उनका अज्ञान है, तो यह कोई अनुचित आक्षेप न होगा।

प्रश्न—हाँ, यह तो अज्ञान का ही परिचायक है। आप एक बात बतलायँगे—धर्म-प्रचार के लिए पहले इँगलैण्ड न आकर आप अमेरिका क्यों गये?

उत्तर—वह केवल एक आकस्मिक घटना थी। विश्व-महामेला के समय विश्वधर्म-सम्मेलन लन्दन में न होकर शिकागो में हुआ था, इसलिए मुझे वहाँ जाना पड़ा। परन्तु उस महा-सम्मेलन का अधिवेशन तो वास्तव में लन्दन में ही होना उचित था। मैसूर के महाराजा तथा अन्य कतिपय सज्जनों ने मुझे हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ भेजा था। मैं वहाँ तीन वर्ष रहा—केवल गत वर्ष ग्रीष्मकाल में वक्तृता देने यहाँ आया था, और इस गरमी में भी आया हुआ हूँ। अमेरिकन लोग एक बड़ी जाति हैं; उनका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। उनके प्रति मेरी विशेष श्रद्धा है; उनमें मुझे कई सहृदय बन्धु मिले। अँगरेजों की तुलना में उनके कुसंस्कार कम हैं—वे किसी भी

नवीन भाव की परख करने के लिए अधिक प्रस्तुत रहते हैं, उसकी नवीनता के बावजूद भी उसका आदर करने के लिए तैयार रहते हैं। फिर वे बड़े अतिथि-परायण भी हैं। लोगों का विश्वास-पात्र होने के लिए वहाँ अपेक्षाकृत कम समय लगता है। मेरे समान आप भी अमेरिका के शहर-शहर में घूमकर वक्तृता दे सकते हैं--*सब जगह आपको मित्र-प्रेमी मिलते रहेंगे।* मैं बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, बाल्टिमोर, वाशिंगटन, डेसमोनिस, मेमफिस आदि अनेक स्थानों में गया था।

प्रश्न--और प्रत्येक स्थान में आपने बहुत से शिष्य भी कर लिये होंगे?

उत्तर--हाँ, शिष्य किये हैं; पर किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की है। वह मेरे कार्य के अन्तर्गत नहीं है। समाज या समितियाँ तो संसार में पहले से ही बहुतसी हैं। इसके अतिरिक्त, सम्प्रदाय गठन करने पर उसकी व्यवस्था के लिए योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। फिर धन भी आवश्यक होता है, क्षमता भी और योग्य संचालनकर्ता भी। बहुधा भिन्न सम्प्रदायवाले अधिकार हथियाने के लिए कोशिश करते हैं, और कभी-कभी तो आपस में लड़ाई भी कर बैठते हैं।

प्रश्न--तो क्या आपके धर्म-प्रचार का संक्षेप में यही मतलब है कि आप केवल विभिन्न धर्मों की पारस्परिक तुलनात्मक आलोचना कर उसी का प्रचार करना चाहते हैं?

उत्तर--मैं तो धर्म के दार्शनिक तत्त्व का ही प्रचार करना चाहता हूँ। धर्मविषयक बाह्य अनुष्ठानों का जो सार तत्त्व है, उसी का मैं प्रचार करना चाहता हूँ। सभी धर्मों में एक मुख्य और एक गौण भाग होता है। उन गौण भागों को

छोड़ देने पर जो बच रहता है, वही सारे धर्मों की नींव है और वही उन सबकी साधारण सम्पत्ति है। सभी धर्मों के अन्तराल में वही एकत्व विद्यमान है—हम फिर उसे जिस नाम से पुकारें, चाहे गॉड कहें या अल्लाह, जिहोवा या आत्मा या प्रेम; वही एक तत्त्व समस्त प्राणियों में प्राणरूप से विराजमान है—निकृष्टतम प्राणी से लेकर उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति मनुष्य तक सभी उसी तत्त्व के प्रकाश हैं। मैं तो केवल इस अधिष्ठानरूप एकत्व की ओर ही सब सम्प्रदायों की दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित करना चाहता हूँ। परन्तु इस पाश्चात्य भूमि में, और केवल पाश्चात्य ही क्यों, सर्वत्र ही लोग गौण विषयों की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं। धर्म के बाह्य अनुष्ठानों का अवलम्बन करके लोग दूसरों को भी अपने ही घेरे में लाना चाहते हैं, और इसके लिए आपस में विवाद-झगड़ा करते हैं और एक दूसरे को मार तक डालते हैं। यह देखते हुए कि भगवद्भक्ति और मानव-प्रेम ही जीवन की सार वस्तु है, ये कलह-विवाद, और कुछ नहीं तो कम-से-कम, बड़े विचित्र कहे जा सकते हैं।

प्रश्न—मेरी समझ में एक हिन्दू कभी भी दूसरे धर्मावलम्बियों पर अत्याचार नहीं कर सकता।

उत्तर—आज तक तो उसने नहीं किया। इस संसार में जितनी जातियाँ हैं, उनमें हिन्दू ही सबसे अधिक परधर्मसहिष्णु है। हिन्दू को गम्भीर धर्मभावापन्न देखकर लोग सोच सकते हैं कि वह ईश्वर में विश्वासहीन नास्तिकों पर अत्याचार करेगा। र यह बात गलत है; क्योंकि आप देखिए, जैन लोग ईश्वर में को भ्रमात्मक बतलाते हैं; परन्तु आज तक किसी भी ने किसी जैन पर अत्याचार नहीं किया है। भारत में

मुसलमानों ने ही सबसे पहले दूसरे धर्मवालों के विरुद्ध तलवारें खींची थी।

प्रश्न—इँगलैण्ड में इस 'मूल एकत्ववाद' का प्रसार कैसा हो रहा है? यहाँ तो आज हजारों सम्प्रदाय विद्यमान हैं।

उत्तर—स्वाधीन चिन्तन और ज्ञान की वृद्धि होने पर धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों का लोप हो जायगा। ये सब सम्प्रदाय गौण विषयों पर प्रतिष्ठित है, इसलिए वे दीर्घकाल तक स्थायी नही रह सकते। उन सम्प्रदायो का उद्देश्य अब सिद्ध हो गया है। वह उद्देश्य था—उन सम्प्रदायों के अन्तर्गत व्यक्तियो की धारणानुसार संकीर्ण भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा करना। अब हम धीरे-धीरे व्यष्टियों के इन छोटे-छोटे समूहों को अलग करनेवाली दीवारों को तोडकर विश्व-बन्धुत्व की भावना पर पहुँच सकते हैं। इँगलैण्ड मे यह कार्य बडी धीमी गति से सिद्ध हो रहा है। इसका कारण सम्भवत. यह है कि अभी भी उपयुक्त समय उपस्थित नही हुआ है। परन्तु फिर भी धीरे-धीरे यह भाव प्रसारित हो रहा है। मै इस बात की ओर आपकी दृष्टि आकर्षित करना चाहता हूँ कि इँगलैण्ड भी भारत में यही कार्य कर रहा है। आज भारत में जो जाति-भेद है, वह भारत की उन्नति की राह पर रोड़े डाल रहा है। उससे संकीर्णता और भेद-बुद्धि आती है, विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में पार्थक्य की दीवारें खड़ी हो जाती है। पर विचार की उन्नति के साथ वह नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

प्रश्न—परन्तु कुछ अँगरेज जो भारत के प्रति कोई कम सहानुभूति नही रखते और जो उसके इतिहास से बिल्कुल अपरिचित नही हैं, वे तो जाति-भेद को मुख्यतया कल्याणकारी ही समझते हैं। लोग तो अनायास ही अधिक-से-अधिक पाश्चात्य-

मानव-जाति के इतिहास में एक प्रकार से भाग्यचक्र में परिवर्तन लानेवाली घटना कही जा सकती है। हम देखते हैं कि डच, पोर्तुगीज, फ्रान्सीसी और अँगरेज क्रम से उस अधिकार की प्राप्ति के लिए कोशिश करते रहे। यह भी कहा जा सकता है कि वेनिसवासियों ने प्राच्य देशों में वाणिज्याधिकार में क्षतिग्रस्त होने के कारण, सुदूर पाश्चात्य प्रदेश में इस क्षति-पूर्ति की जो चेष्टा की, उसी से अमेरिका का आविष्कार हुआ है। *

प्रश्न——इसकी परिणति कहाँ होगी ?

उत्तर——अवश्य इसका अन्त भारत में साम्यभाव की स्थापना में होगा; सारे भारतीयों के लिए व्यक्तिगत समान अधिकार की प्राप्ति में——जिसे हम प्रजातंत्रात्मक भाव कहते हैं——इसकी परिणति होगी। ज्ञान मुट्ठी-भर शिक्षित व्यक्तियों की एकाधिकार सम्पत्ति न रहेगा; वह समाज के उच्च स्तर से धीरे-धीरे निम्नतम स्तर तक विस्तृत होगा। जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है; भविष्य में शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी जायगी। भारतीय जनता में जो अथाह कार्यकरी शक्ति विद्यमान है, उसे काम में लाना होगा। भारत के हृदय में महान् शक्ति निहित है——उसको जगाना है।

प्रश्न——विना प्रवल युद्ध-सामर्थ्यवान् हुए क्या कभी कोई जाति वड़ी वनी है ?

---

* वेनिस यूरोप के साथ प्राच्य देशीय वाणिज्य का एक प्रधान केन्द्र था। तुर्कों ने जव वेनिस-निवासियों के प्राच्य देशों में गमनागमन का मार्ग [illegible] कर दिया, तव अन्य किसी मार्ग का अवलम्वन करके भारत, जापान [illegible]ति स्थानों में पहुँचने का प्रयत्न किया गया था। इसी मार्गान्वेषण के स्वरूप संयोग से अमेरिका का आविष्कार हो गया।

स्वामीजी ने क्षण मात्र के लिए भी इतस्ततः न करके तुरन्त उत्तर दिया, "हाँ, चीन इसका उदाहरण है। मैंने चीन और जापान में भी भ्रमण किया है। आज चीन की दशा एक बिखरे हुए दल के समान है; पर जब वह उन्नति के शिखर पर था, तब उसकी जैसी सुन्दर और सुशृंखलाबद्ध समाज-व्यवस्था थी, वैसी आज तक दुनिया में और कहीं देखी न गयी। आज हम जिन उपायों और प्रणालियों को आधुनिक समझते हैं, उनमें से अधिकांश तो चीन देश में सैकड़ों क्यों, हजारों वर्ष तक प्रचलित थे। उदाहरण के लिए बड़ी-बड़ी नौकरियों के लिए होनेवाली परीक्षाओं (Competitive Examinations) को ही लीजिए।"

प्रश्न—अच्छा, चीन की ऐसी विशृंखल दशा क्यों हो गयी?

उत्तर—इसलिए कि चीन अपनी सामाजिक प्रणाली के अनुरूप योग्य व्यक्तियों का निर्माण न कर सका। आप लोगों में यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि 'पार्लमेन्ट के विधान-बल से मनुष्यों को सद्गुणी नहीं बनाया जा सकता।' चीनियों ने यह बात आपसे पहले ही अनुभव कर ली थी। इसी लिए राजनीति की अपेक्षा धर्मनीति की अधिक उपकारिता है, क्योंकि धर्म विषयों के मूल तक पहुँचता है और मनुष्य की चेष्टाओं की भित्ति को लेकर रहता है।

प्रश्न—आप भारत की जिस जागृति के विषय में कह रहे हैं, भारत क्या उस सम्बन्ध में सचेत है?

उत्तर—सम्पूर्ण सचेत है। दुनिया शायद मुख्यतः कांग्रेस-आन्दोलन और समाज-सुधार-क्षेत्र में ही जागरण का अनुभव

कर रही है; पर धर्म के क्षेत्र में भी यह जागरण उतना ही सत्य है—भले ही वह अपेक्षाकृत धीरे-धीरे हो रहा हो।

प्रश्न—पाश्चात्य और प्राच्य देश के आदर्शों में इतना अन्तर है! हमारा आदर्श सामाजिक अवस्था की पूर्णता प्राप्त करना है। हम लोग इन्हीं समस्याओं के समाधान में लगे हुए हैं, जबकि दूसरी ओर प्राच्यनिवासी सूक्ष्म तत्वों के ध्यान में अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। यहाँ पार्लमेन्ट इस पर विचार-विनिमय कर रही है कि सूडान की लड़ाई में भारतीय सैनिकों का व्यय-भार किसके सिर लादा जाय। रक्षणशील सम्प्रदाय (Conservative Party) के सभी शिष्ट संवाद-पत्रों ने सरकार के इस अनुचित निर्णय के विरोध में प्रबल आवाजें उठायी हैं, परन्तु आप लोग शायद सोचते होंगे कि यह विषय बिलकुल ध्यान देने योग्य नहीं है।

स्वामीजी सामने पड़े हुए अखबार को लेकर रक्षणशील सम्प्रदाय के पत्रों से उद्धृत किये हुए अंशों पर नजर दौड़ाते हुए बोले, "पर यहाँ पर आपने बिलकुल गलत समझा है। इस विषय में मेरी सहानुभूति स्वाभाविक ही अपने देश के साथ है। फिर भी यहाँ मुझे एक प्राचीन संस्कृत कहावत याद आती है—'विक्रीते करिणि किमंकुशे विवादः' अर्थात् 'हाथी को तो बेच डाला, अब अंकुश को लेकर झगड़ा क्यों?' भारत तो चिरकाल से ही देता आ रहा है। राजनीतिज्ञों का विवाद बड़ा विचित्र होता है। राजनीति में धर्म का प्रवेश कराने के लिए युगों लगेंगे।"

प्रश्न—तो भी, उस कार्य के लिए अभी से प्रयत्न तो करना चाहिए?

उत्तर—हाँ, संसार के सबसे बड़े शासन-यंत्र, इस विशाल लन्दन नगरी के हृदय में किसी भाव का बीजारोपण कर देना विशेष आवश्यक है। मैं बहुधा इसकी कार्यप्रणाली का पर्यवेक्षण किया करता हूँ—देखा करता हूँ, कैसे तेज और कैसी पूर्णता के साथ सबसे सूक्ष्म नस तक इसका भाव-प्रवाह पहुँच रहा है! इसका भाव-विस्तार, इसकी चारों ओर शक्ति-संचालन करने की प्रणाली कैसी अद्भुत है! इसको देखने से समग्र साम्राज्य की वृहत्ता तथा इसके कार्य की महत्ता को समझने में सहायता मिलती है। अन्यान्य विषयों के विस्तार के साथ-साथ यह शासन-यंत्र भावों का भी विस्तार किया करता है। इस महान् यंत्र के अन्तस्तल में कुछ भावों का प्रवेश करा देना बड़ा आवश्यक है, जिससे सबसे दूरवर्ती प्रदेश तक उनका प्रसार हो सके।

स्वामीजी की आकृति विशेषत्वपूर्ण है। उनका लम्बा-चौड़ा सुन्दर सुडौल शरीर प्राच्य देश की आकर्षक वेश-भूषा से और भी सुन्दर दिखायी देता है। उनका व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली है। जन्म से वे बंगाली हैं, तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रैजुएट हैं। उनकी वक्तृता-शक्ति असाधारण है। बिना किसी संक्षिप्त नोट आदि के ही वे किसी भी विषय पर डेढ़-डेढ़ घण्टे तक धाराप्रवाह वक्तृता दे सकते हैं, एक शब्द के लिए भी उनको कहीं पर रुकना नहीं पड़ता।

—सी. एस. बी.

इँगलैण्ड में भारतीय धर्म-प्रचारक का प्रचार-कार्य

(लन्दन से प्रकाशित "एको" नामक संवाद-पत्र, १८९६, से उद्धृत)

...स्वामीजी यदि अपने देश में होते, तो शायद किसी पेड़ के नीचे या किसी मन्दिर के अहाते में ही पड़े रहते; वे अपने देश की पोशाक पहनते और उनका सिर मुँड़ा हुआ होता। परन्तु लन्दन में वे ऐसा कुछ भी नहीं करते। अतः मैं जब स्वामीजी से मिलने गया, तो देखा कि वे अन्य व्यक्तियों की ही नाईं निवास कर रहे हैं। वेश-भूषा भी अन्यान्य लोगों के ही समान थी। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि वे गेरुए रंग का एक लम्बासा चोगा पहनते हैं। वे हँसते हुए बोले, "लन्दन की सड़कों में गरीबों के जो छोटे-छोटे लड़के घूमते-फिरते हैं, वे मेरे पहनावे को बिलकुल ही पसन्द नहीं करते; विशेष कर पगड़ी पहनने पर तो कहना ही क्या! उस पोशाक में मुझे देखकर वे जो कुछ कहते हैं, वह बतलाने लायक नहीं है।"

मैंने इन भारतीय योगी से प्रार्थना की कि वे अपने नाम के अक्षरों का धीरे-धीरे उच्चारण करें।

*　　　*　　　*

प्रश्न---आप क्या ऐसा समझते हैं कि आजकल असार और गौण विषयों में ही लोगों की दृष्टि अधिक रहती है?

उत्तर---मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। अनुन्नत जातियों एवं पाश्चात्य देश की सभ्य जातियों के अन्तर्गत अल्प-शिक्षितों में भी यह भाव देखा जाता है। आपके प्रश्न से यह सूचित होता है कि शिक्षित और धनी व्यक्तियों का भाव अलग

है। * और सचमुच वैसा है भी। धनी लोग या तो भोग-ऐश्वर्य में डूबे हुए हैं, अथवा अधिक धन बटोरने की चिन्ता में हैं। वे तथा सांसारिक कर्मों में व्यस्त अधिकांश लोग यही समझते हैं कि धर्म मिथ्या और व्यर्थ की चीज है, और वे सचमुच ऐसा अनुभव भी करते हैं। यदि कोई धर्म प्रचलित है, तो वह है देश-प्रेम और लोकाचार। लोग गिरजाघरों को तभी जाते हैं, जब या तो विवाह होता है, या किसी की अन्त्येष्टि क्रिया।

प्रश्न—आपके प्रचार का फल क्या यह होगा कि लोग गिरजाघरों में अधिक जाने लगेंगे?

उत्तर—मैं तो ऐसा नहीं समझता, क्योंकि बाह्य अनुष्ठान या मतवाद के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। धर्म ही सब कुछ है और सबके भीतर है—बस यही दिखाना मेरा जीवन-व्रत है।...और यहाँ, इँगलैण्ड में, कौनसा भाव चल रहा है? भाव-गति को देखकर तो ऐसा मालूम होता है कि सोशलिज्म (समाजवाद) † या और किसी प्रकार का लोकतन्त्र, चाहे आप उसको किसी भी नाम से पुकारें, शीघ्र प्रचलित होगा। लोग अवश्य अपनी सांसारिक जरूरत की चीजों की

---

* 'शिक्षित व्यक्तियों का भाव अलग है' इसका अर्थ है—उन्होंने धर्म के गौण भाव को छोड़कर उसके मुख्य भाव को ही विशेष रूप से अपनाया है। तथा 'धनी व्यक्तियों का भाव अलग है' का अर्थ है—वे धर्म के मख्य या गौण किसी भी प्रकार के भाव को नहीं अपनाते, अर्थात् धर्म की नितान्त उपेक्षा करते हैं।

—अनुवादक।

† पाश्चात्य देशीय एक प्रबल मत। इसके अनुसार धनी निर्धन, सबकी सम्पत्ति इकट्ठी रहे और उस सम्पत्ति में सबके बराबर-बराबर अधिकार हों।

आकांक्षा मिटाना चाहेंगे। वे तो चाहेंगे कि उनके काम पहले से कम हो जायँ, खाने-पीने को अच्छी तरह मिले, अत्याचार और लड़ाई आदि संसार में बिलकुल बन्द हो जायँ। अच्छा, एक बात पूछता हूँ, यदि यहाँ की अथवा अन्य कोई सभ्यता धर्म पर, मनुष्य की साधुता पर प्रतिष्ठित न हो, तो उसके टिकने की निश्चितता क्या? यह आप पक्का जान लें कि धर्म सब विषयों की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक रहे, तो सभी कुछ ठीक रहेगा।

प्रश्न---परन्तु धर्म का सार जो दार्शनिक भाव है, उसे तो लोगों की बुद्धि में प्रवेश कराना सहज न होगा, क्योंकि लोग हमेशा जिन विचार और भावों का अवलम्बन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, उनसे धर्म का सार-भाव तो बहुत दूर है।

उत्तर---सभी धर्मों में हम यह पाते हैं कि लोग पहली अवस्था में क्षुद्रतर सत्य का अवलम्बन करते हैं; फिर उसी के बल से तदपेक्षा उच्चतर सत्य में पहुँचते हैं। इसलिए यह कहना कि हम असत्य से सत्य में पहुँचते हैं, गलत है। सारी सृष्टि के अन्तराल में एकत्व विद्यमान है, परन्तु मनुष्यों का मन नितान्त भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'---'यथार्थ वस्तु एक ही है, ज्ञानी उसी का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं।' मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि लोग संकीर्णतर सत्य से व्यापकतर सत्य की ओर अग्रसर होते हैं। इसलिए अविकसित अथवा निम्न कोटि के धर्म भी मिथ्या नहीं हैं, वे भी सत्य हैं; हाँ, उनमें सत्य की धारणा या अनुभूति अपेक्षाकृत अस्पष्ट या निकृष्ट है, बस इतना ही। लोगों के ज्ञान का विकास धीरे-धीरे होता है। यहाँ तक कि भूतों की उपासना

भी उसी नित्य सनातन सत्यस्वरूप ब्रह्म की विकृत उपासना है । धर्म के और भी जितने रूप हैं, उनमें भी किसी-न-किसी अंश में सत्य वर्तमान है । किसी भी धर्मविशेष में सत्य पूर्णरूप से वर्तमान नहीं है ।

प्रश्न—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इंगलैण्ड में जिस धर्म का प्रचार करने के लिए आये हैं, वह क्या आप ही के द्वारा प्रवर्तित किया गया है?

उत्तर—कदापि नहीं । मैं तो रामकृष्ण परमहंस नामक एक भारतीय महापुरुष का शिष्य हूँ । हमारे देश के कई महापुरुषों की नाईं वे कोई विशेष पण्डित तो न थे, पर एक अतिशय पवित्रात्मा थे; उनका जीवन और उनके उपदेश वेदान्त-दर्शन के भाव से विशेष रूप से रँगे हुए थे । मैंने 'वेदान्त-दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है, पर उसे 'धर्म' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वास्तव में वह 'धर्म' भी है और 'दर्शन' भी । हाल ही में, 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' नामक पत्र के एक अंक में प्राध्यापक मैक्समूलर ने मेरे गुरुदेव के विषय में जो विवरण प्रकाशित किया है, उसे आप कृपया पढ़िए । सन् १८३६ ई. में बंगाल के हुगली नामक जिले में श्रीरामकृष्ण का जन्म हुआ था और सन् १८८६ में उन्होंने देह छोड़ दी । केशवचन्द्र सेन तथा अन्यान्य व्यक्तियों पर उनका प्रबल प्रभाव पड़ा था । शरीर और मन के संयम का अभ्यास कर उन्होंने आध्यात्मिक विषयों में गम्भीर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी । उनके मुख का भाव साधारण मनुष्यों की भाँति न था—उस पर बालक की नाईं कमनीयता, गम्भीर नम्रता, अद्भुत शान्ति और माधुर्य का भाव खेला करता था । उनके श्रीमुख के दर्शन करने पर कोई भी बरबस ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था ।

प्रश्न——तब तो मालूम होता है, आपके उपदेशों का मूल वेद ही हैं ?

उत्तर——हाँ, 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है वेदों का अन्तिम भाग, वह वेदों का तीसरा भाग है। उसको उपनिषद् भी कहा जाता है। पहले के भाग में जो सब भाव बीजाकार में हैं, उन्हीं की उत्तर भाग में अर्थात् उपनिषदों में परिपक्वता हुई है। वेदों के सबसे प्राचीन भाग का नाम है संहिता। उसकी भाषा अत्यन्त प्राचीन युग की संस्कृत है। केवल यास्क-कृत निरुक्त नामक अति प्राचीन संस्कृत-कोष की सहायता से ही उसका अर्थ समझ में आ सकता है।

प्रश्न——हम अँगरेज तो बल्कि ऐसा समझते हैं कि भारत को हमसे बहुत-कुछ शिक्षा लेनी है; परन्तु हमको भी भारत से कुछ सीखना है, इस सम्बन्ध में हमारी साधारण जनता अज्ञान में ही है।

उत्तर——हाँ, यह बात सत्य है। परन्तु विद्वान् लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि भारत से कहाँ तक शिक्षा मिल सकती है, और वह शिक्षा कितनी महत्त्वपूर्ण है। आप मैक्स-मूलर, मोनियर विलियम्स, सर विलियम हन्टर अथवा जर्मनी के प्राच्य-तत्त्ववित् पण्डितों को कभी भी भारतीय सूक्ष्मतत्त्व-विज्ञान की अवज्ञा करते नहीं पायँगे।

स्वामीजी ३९ नं., विक्टोरिया स्ट्रीट में वक्तृता दिया करते हैं। कोई भी आकर सुन सकता है। आने में किसी को किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं है। और प्राचीन प्रेरितगण के युग*

* Apostolic Age——वह समय, जब Apostles (ईसा मसीह के बारह शिष्य) अर्थात् प्रेरितगण और उनके शिष्य धर्म-प्रचार के कार्य में नियुक्त थे।

की नाईं यह नयी शिक्षा विना मूल्य दी जाती है। इस भारतीय धर्म-प्रचारक की देह की गठन असाधारण रूप से सुन्दर है। अँगरेजी भाषा पर उनका पूरा-पूरा प्रभुत्व है, यह कहना नितान्त सत्य होगा।

--सी. एम. वी.

तुलना में ऐसा ही है,

(३) जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान अथवा रज्जु में सर्प-ज्ञान भ्रम की दशा में सत्य है और यह ज्ञान मन की किसी अवस्था-विशेष पर निर्भर रहता है, वैसे ही वर्तमान में इस जगत् की भी एक आपात-प्रतीयमान सत्यता है, और यह सत्यता-ज्ञान भी मन की अवस्थाविशेष पर निर्भर रहता है, किन्तु परमार्थतः (परिणाम में) यह मिथ्या है;

(४) वन्ध्या-पुत्र या शश-शृंग जिस प्रकार मिथ्या है, यह जगत् भी उसी प्रकार एक मिथ्या छाया मात्र है।

इन भावों में से अद्वैत दर्शन के अनुसार 'जगत् मिथ्या' का तात्पर्य किससे है?

उत्तर—अद्वैतवादियों में अनेक भेद हैं। परन्तु उनमें से प्रत्येक ने उपर्युक्त मतों में से किसी-न-किसी एक के सहारे अद्वैतवाद को समझा है। पर आचार्य शंकर ने तृतीय मतानुसार शिक्षा दी है। वे कहते हैं कि यह जगत् हमारे सम्मुख जिस रूप से प्रतिभासित हो रहा है, वह हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में व्यावहारिक रूप से सत्य है; परन्तु जब मनुष्य का

ज्ञान उच्चभूमि में पहुँचता है, तब यह बिलकुल अन्तर्हित हो जाता है। आप अँधेरे में एक ठूँठ को देखकर उसे भूत समझ बैठते हैं। उस समय के लिए आपका भूत-ज्ञान सत्य है, क्योंकि यथार्थ भूत आपके मन में जो विकार उत्पन्न करता और उसका जो फल होता, इससे भी ठीक वही फल हो रहा है। आप ज्योंही समझ लेंगे कि वह केवल एक ठूँठ है, त्योंही आपका भूत-ज्ञान चला जायगा। ठूँठ-ज्ञान और भूत-ज्ञान दोनों एक साथ नहीं ठहर सकते; उनमें से जब एक रहता है, तब दूसरा नहीं रहता।

प्रश्न—आचार्य शंकर के कुछ ग्रन्थों में क्या चतुर्थ मत को भी स्वीकार नही किया गया है?

उत्तर—नहीं। आचार्य के 'जगत् मिथ्या' उपदेश का मर्म ठीक-ठीक ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण कोई-कोई व्यक्ति वैसी अतिशयोक्ति कर बैठे हैं। उन्ही ने अपने ग्रन्थों में उस चतुर्थ पक्ष का समर्थन किया है। प्रथम और द्वितीय पक्ष का ग्रहण किसी-किसी श्रेणी के अद्वैतवादियों ने किया है, पर आचार्य शंकर ने उनके मत का अनुमोदन कभी नही किया।

प्रश्न—इस आपात-प्रतीयमान सत्यता का क्या कारण है?

उत्तर—ठूँठ में जो भूत का भ्रम होता है, उसका कारण क्या होता है? यथार्थ में जगत् सर्वदा एकरूप ही है, आपका मन ही उसमें अनेकानेक अवस्था-वैचित्र्य की सृष्टि कर रहा है।

प्रश्न—'वेद अनादि अनन्त हैं' इस कथन का क्या तात्पर्य है? यह बात क्या वैदिक मंत्रों के विषय में है? और यदि वेद-मंत्रों में निहित सत्य को लक्ष्य करके ही वेदों को अनादि-अनन्त कहा जाता हो, तो फिर क्या न्याय, ज्यामिति, रसायन

आदि शास्त्र भी अनादि-अनन्त न होंगे; क्योंकि उनमें भी तो सनातन सत्य विद्यमान है ?

उत्तर—एक समय ऐसा था, जब वेद इस अर्थ में अनादि-अनन्त समझे जाते थे कि 'उनके अन्तर्गत आध्यात्मिक सत्य अपरिवर्तनशील और सनातन हैं, केवल, मनुष्य के समक्ष अभिव्यक्त मात्र हुए हैं'। ऐसा मालूम होता है कि उत्तरकाल में अर्थज्ञान के सहित वैदिक मंत्रों का ही प्राधान्य हो गया, जिससे लोग इन मंत्रों को ही ईश्वरप्रसूत मानकर विश्वास करने लगे। और भी आगे चलकर, मंत्रों के अर्थ से यह मालूम होने लगा कि उनमें बहुत से ऐसे मंत्र हैं, जो ईश्वरप्रसूत नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे मानव-जाति के लिए प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने के हेतु अनेक प्रकार के अशुद्ध कर्मों का विधान करते हैं। और उनमें से कुछ मंत्रों में तो हास्यास्पद कथाएँ भी वर्णित हैं। 'वेद अनादि अनन्त हैं' इस बात का तात्पर्य यही है कि उनके द्वारा मनुष्यों के लिए जिस विधि या सत्य का प्रकाश किया गया है, वह नित्य और अपरिणामी है। न्याय, ज्यामिति, रसायन प्रभृति शास्त्र भी मनुष्यों के लिए नित्य, अपरिणामी नियम या सत्य का प्रकाश करते हैं, और इस दृष्टि से वे भी अनादि-अनन्त हैं। परन्तु ऐसा कोई सत्य या विधि नहीं है, जो वेदों में न हो। मैं आप सबको चुनौती देता हूँ कि आप एक ऐसा सत्य तो दिखा दें, जिसकी व्याख्या वेदों में न हो।

अद्वैतवादी की दृष्टि में मुक्ति का स्वरूप कैसा का तात्पर्य यह है कि क्या उनके मत से मुक्ति-ज्ञान रहता है ? अद्वैतवादियों की मुक्ति और बौद्धों —इनमें क्या कुछ भेद है ?

उत्तर—मुक्ति में भी एक प्रकार का ज्ञान रहता है, जिसे हम 'तुरीयज्ञान' या ज्ञानातीत अवस्था कहते हैं। उस ज्ञान के साथ हमारे वर्तमान ज्ञान का बहुत भेद है। यह कहना कि मुक्ति की अवस्था में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, युक्ति-विरुद्ध है। आलोक की नाईं ज्ञान की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं—मृदु (dull), मध्यविध या मध्यम (mediocre) और अधिमात्र या अत्यन्त (intense)। जब आलोक-परमाणुओं का स्पन्दन अतिशय प्रबल होता है, तब उससे प्रकाश इतना तीव्र हो जाता है कि उसकी उज्ज्वलता से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, और जिस प्रकार अति क्षीण प्रकाश में कुछ दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार इसमें भी कुछ दिखायी नहीं देता। ऐसा ही ज्ञान के विषय में भी है। बौद्ध लोग चाहे जो कहें, पर उनके निर्वाण में भी इस प्रकार का ज्ञान विद्यमान है। हमारी मुक्ति की व्याख्या अस्ति-भावात्मक है और बौद्धों के निर्वाण की नास्ति-भाव-द्योतक।

प्रश्न—उपाधि या अवस्था के अतीत होते हुए भी ब्रह्म जगत् की सृष्टि के लिए उपाधि या अवस्थाविशेष का आश्रय क्यों लेता है?

उत्तर—आपका यह प्रश्न ही अयौक्तिक है, न्यायशास्त्र के बिलकुल विरुद्ध है। ब्रह्म 'अवाङ्मनसगोचर' अर्थात् वाणी या मन का विषय नहीं है। जो वस्तु देश-काल-निमित्त से परे है, उसको मानव-बुद्धि कभी अपना विषय नहीं कर सकती। जहाँ तक देश-काल-निमित्त का राज्य है, बस वहीं तक युक्ति या अनुसन्धान का अधिकार है। जब ऐसा है, तब जिस विषय की मनुष्य-बुद्धि द्वारा धारणा होना असम्भव है, उसके सम्बन्ध में जानने की इच्छा व्यर्थ की चेष्टा मात्र है।

प्रश्न--ऐसा देखने में आता है, कई लोग कहते हैं कि पुराणों के ऊपरी अर्थ के पीछे गुह्य अर्थ विद्यमान है। वे कहते हैं कि पुराणों में उन गुह्य भावों का ही आख्यायिका-रूप से अर्थात् रूपक की सहायता से वर्णन किया गया है। फिर कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि पुराणों में कुछ भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है--उच्चतम आदर्शों को समझाने के लिए पुराण-कर्ताओं ने कुछ काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि कर ली है। दृष्टान्त के लिए विष्णुपुराण, रामायण या महाभारत की बात लीजिए। अव प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में उनमें कुछ ऐतिहासिक सत्य है, या वे केवल दार्शनिक सत्यों के रूपक-वर्णन मात्र हैं, अथवा मानव-जाति के चरित्र को नियमित करने के लिए उच्चतम आदर्शों के ही दृष्टान्त हैं, अथवा मिल्टन, होमर आदि कवियों की कृतियों की नाईं वे भी केवल उच्च भावात्मक काव्य मात्र हैं ?

उत्तर--कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक सत्य प्रत्येक पुराण की भित्ति है। पुराणों का लक्ष्य है--विभिन्न भावों से परम सत्य की शिक्षा देना। और यदि उनमें कहीं कुछ ऐतिहासिक सत्य न भी हों, तो भी वे जिस उच्चतम सत्य का उपदेश देते हैं, उसकी दृष्टि से वे हमारे लिए उच्च प्रमाणस्वरूप हैं। दृष्टान्त के लिए रामायण को ही लीजिए--उसको एक अनुल्लंघनीय प्रमाण-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करने के लिए, रामचन्द्र-जैसे किसी व्यक्ति की ऐतिहासिक सत्यता को भी अवश्य स्वीकार करना होगा, ऐसी कोई वात नहीं। रामायण या महाभारत में जिस धर्म की महिमा गायी गयी है, वह राम या कृष्ण के अस्तित्व-नास्तित्व की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए इनके अस्तित्व में ... सी न होने पर भी, रामायण और महाभारत ने मानव-

जाति को जिन महान् तत्त्वों का उपदेश दिया है, उनके सम्बन्ध में इन ग्रन्थों का उच्च प्रामाण्य स्वीकृत किया जा सकता है। हमारा दर्शन अपनी सत्यता के लिए किसी व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं करता। देखिए, कृष्ण ने ससार को कोई नयी या मौलिक शिक्षा नहीं दी। वैसे ही, रामायणकार ने भी कभी कोई ऐसी बात नहीं कही, जो हमारे वेदादि शास्त्रों मे बिलकुल उपदिष्ट न हो। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि ईसाई-धर्म ईसा के बिना, इस्लाम-धर्म मुहम्मद के बिना और बौद्ध-धर्म बुद्ध के बिना नही ठहर सकता, परन्तु हिन्दू-धर्म ही एकमात्र ऐसा है, जो किसी व्यक्तिविशेष पर बिलकुल निर्भर नही करता। और यदि इस बात का विचार करना हो कि पुराण मे वर्णित दार्शनिक सत्य कहाँ तक प्रामाण्य है, तो इसके लिए यह सब चर्चा करने की कोई आवश्यकता नही कि उसमें वर्णित व्यक्ति वास्तव में थे, अथवा वे केवल काल्पनिक चरित्र मात्र है। पुराणों का उद्देश्य था मानव-जाति को शिक्षा देना, और जिन ऋषियों ने उनकी रचना की, उन्होंनें कुछ ऐसे ऐतिहासिक चरित्र ढूँढ़े, जिन पर वे अपनी इच्छानुसार सारे अच्छे अथवा सारे बुरे गुणों का आरोप कर सकते थे, और इस प्रकार वे मानव-जाति के परिचालन के लिए धर्म का विधान कर गये। यह क्या आवश्यक है कि रामायण में वर्णित दस मुँहवाले रावण का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा? दस मुँहवाला कोई रहा हो या न रहा हो, हमें तो बस उस सत्य का विशेष रूप से अध्ययन और विचार करना है, जिसकी शिक्षा उस चरित्र के सहारे दी गयी है। आज आप कृष्ण का और भी आकर्षक वर्णन कर सकते हैं, और यह वर्णन आपके आदर्श की उच्चता के

अनुरूप होगा, परन्तु पुराणों में वर्णित महोच्च दार्शनिक सत्य सर्वदा एक ही रूप होते हैं।

प्रश्न—यदि कोई व्यक्ति adept (सिद्ध) हो जाय, तो क्या उसे अपने पूर्व-जन्मों की घटनाएँ याद आ सकती हैं? पूर्व-जन्म का उसका स्थूल मस्तिष्क, जिसमें उसकी पूर्वानुभूति के संस्कार संचित थे, अब नहीं रहा। इस जन्म में उसे एक नया मस्तिष्क मिला है। अतः ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि उसका वर्तमान मस्तिष्क उस यन्त्र द्वारा गृहीत संस्कारों को स्मरण में लाये, जो अभी वर्तमान नहीं है?

स्वामीजी—Adept (सिद्ध) शब्द से आपका क्या तात्पर्य है?

संवाददाता—जिसने अपनी 'गुह्य' शक्तियों का 'विकास' किया हो।

स्वामीजी—मैं यह नहीं समझ सकता कि 'गुह्य' शक्तियों का 'विकास' कैसे होगा। आपका मतलब मैं समझता हूँ, पर मैं चाहता हूँ कि जिन शब्दों का व्यवहार किया जाय, उनके अर्थ बिलकुल स्पष्ट और सीधे हों। जहाँ पर जो शब्द उचित हो, वहाँ पर बस उसी का व्यवहार करना चाहिए। आप कह सकते हैं कि 'गुह्य' या 'अव्यक्त' शक्ति 'व्यक्त' या 'निरावरण' होती है। जिनकी अव्यक्त शक्ति व्यक्त हो गयी है, वे अपने पूर्व-जन्मों की घटनाओं को स्मरण कर सकते हैं; क्योंकि मरने के बाद [illegible] सूक्ष्म या लिंग शरीर रहता है, वही उनके वर्तमान [illegible]ीजस्वरूप है।

अहिन्दू को हिन्दू धर्मावलम्बी करना हिन्दू-धर्म का विरोधी तो नहीं है? और एक चाण्डाल

यदि शास्त्र की व्याख्या करे, तो क्या ब्राह्मण उसे सुन सकते है?

उत्तर—अहिन्दू को हिन्दू बनाने में हिन्दू-धर्म की कोई आपत्ति नही है। कोई भी व्यक्ति, वह चाहे शूद्र हो या चाण्डाल, ब्राह्मण के भी सम्मुख दर्शनशास्त्र की व्याख्या कर सकता है। सबसे नीच व्यक्ति से भी, चाहे वह जिस जाति या धर्म का हो, सत्य की शिक्षा ली जा सकती है।

अपने इस मत के प्रमाण में स्वामीजी ने बहुत से संस्कृत श्लोक उद्धृत किये।

इतने में वार्तालाप बन्द हो गया, क्योंकि स्वामीजी का मन्दिर मे जाने का निर्दिष्ट समय हो चुका था। उन्होंने उपस्थित सज्जनों से विदा ली और देवता-दर्शन के लिए मन्दिर चले गये।

अनुरूप होगा, परन्तु पुराणों में वर्णित महोच्च दार्शनिक सत्य सर्वदा एक ही रूप होते हैं।

प्रश्न—यदि कोई व्यक्ति adept (सिद्ध) हो जाय, तो क्या उसे अपने पूर्व-जन्मों की घटनाएँ याद आ सकती हैं? पूर्व-जन्म का उसका स्थूल मस्तिष्क, जिसमें उसकी पूर्वानुभूति के संस्कार संचित थे, अब नहीं रहा। इस जन्म में उसे एक नया मस्तिष्क मिला है। अतः ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि उसका वर्तमान मस्तिष्क उस यन्त्र द्वारा गृहीत संस्कारों को स्मरण में लावे, जो अभी वर्तमान नहीं है?

स्वामीजी—Adept (सिद्ध) शब्द से आपका क्या तात्पर्य है?

संवाददाता—जिसने अपनी 'गुह्य' शक्तियों का 'विकास' किया हो।

स्वामीजी—मैं यह नहीं समझ सकता कि 'गुह्य' शक्तियों का 'विकास' कैसे होगा। आपका मतलब मैं समझता हूँ, पर मैं चाहता हूँ कि जिन शब्दों का व्यवहार किया जाय, उनके अर्थ बिलकुल स्पष्ट और सीधे हों। जहाँ पर जो शब्द उचित हो, वहाँ पर बस उसी का व्यवहार करना चाहिए। आप कह सकते हैं कि 'गुह्य' या 'अव्यक्त' शक्ति 'व्यक्त' या 'निरावरण' होती है। जिनकी अव्यक्त शक्ति व्यक्त हो गयी है, वे अपने पूर्व-जन्मों की घटनाओं को स्मरण कर सकते हैं; क्योंकि मरने के बाद जो सूक्ष्म या लिंग शरीर रहता है, वही उनके वर्तमान मस्तिष्क का बीजस्वरूप है।

प्रश्न—अहिन्दू को हिन्दू धर्मावलम्बी कर

के मूलभाव का विरोधी तो ें

यदि शास्त्र की व्याख्या करे, तो क्या ब्राह्मण उसे सुन सकते हैं ?

उत्तर—अहिन्दू को हिन्दू बनाने में हिन्दू-धर्म की कोई आपत्ति नहीं है। कोई भी व्यक्ति, वह चाहे शूद्र हो या चाण्डाल, ब्राह्मण के भी सम्मुख दर्शनशास्त्र की व्याख्या कर सकता है। सबसे नीच व्यक्ति से भी, चाहे वह जिस जाति या धर्म का हो, सत्य की शिक्षा ली जा सकती है।

अपने इस मत के प्रमाण में स्वामीजी ने बहुत से संस्कृत श्लोक उद्धृत किये।

इतने में वार्तालाप बन्द हो गया, क्योंकि स्वामीजी का मन्दिर में जाने का निर्दिष्ट समय हो चुका था। उन्होंने उपस्थित सज्जनों से विदा ली और देवता-दर्शन के लिए मन्दिर चले गये।

भारतेतर देश एवं भारत की विभिन्न समस्याएँ

('हिन्दू' मद्रास, फरवरी, सन् १८९७ ई.)

हमारे एक प्रतिनिधि चिंग्लिपट स्टेशन में स्वामीजी से ट्रेन में मिले और उनके साथ मद्रास तक आये। गाड़ी में उन दोनों के बीच निम्नलिखित वार्तालाप हुआ।

प्रश्न---स्वामीजी, आप अमेरिका क्यों गये थे ?

उत्तर---यह एक कठिन प्रश्न है। संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर देना मुश्किल है। अभी मैं इस प्रश्न का केवल आंशिक उत्तर दे सकता हूँ। भारत में मैंने सर्वत्र भ्रमण किया था;---मैंने देखा कि भारत-भ्रमण तो काफी हो गया, अब दूसरे देशों को भी देखना चाहिए। मैं जापान होते हुए अमेरिका गया था।

प्रश्न---आपने जापान में क्या देखा ? आज जापान जिस तरह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, आपकी समझ में क्या उसका अनुसरण करना भारत के लिए सम्भव है ?

उत्तर---जब तक भारत के तीस करोड़ लोग मिलकर एक राष्ट्र नहीं बन जाते, तब तक तो कोई सम्भावना नहीं है। जापानियों के समान स्वदेश-हितैषी और शिल्प-निपुण जाति संसार में दूसरी नहीं दिखती। जापानियों में और भी एक विशेषता है---यूरोप और अन्य स्थानों में एक ओर जैसे शिल्प और कला-कौशल की उन्नति है, वैसे ही दूसरी ओर वहाँ गन्दगी भी है, परन्तु जापानियों में जैसे शिल्प-कला का सौन्दर्य है, वैसे ही उनमें साफ-सफाई भी है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि हमारे [देश] के नवयुवक जीवन में कम-से-कम एक बार जापान घूम-

फिर आयें। वहाँ जाना कोई विशेष कठिन नहीं है। जापानियों के लिए सभी हिन्दू बड़े हैं और भारत को वे तीर्थस्थान समझते हैं। सिंहल के बौद्ध-धर्म से जापान का बौद्ध-धर्म बिलकुल पृथक् है। जापान का बौद्ध-धर्म वेदान्त से भिन्न नहीं है। सिंहल का बौद्ध-धर्म नास्तिकता के दोष से दूषित है, परन्तु जापान का बौद्ध-धर्म आस्तिक है।

प्रश्न—जापान अकस्मात् ही कैसे इतना उन्नत हो गया? इसका क्या रहस्य है?

उत्तर—जापानियों का आत्म-विश्वास और स्वदेश-प्रेम। जब भारत में ऐसे व्यक्तियों का जन्म होगा, जो जन्मभूमि के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर रहेंगे, जिनके मन और मुँह एक होंगे अर्थात् जो निष्कपट और लगन के पक्के होंगे, तब भारत पुनः सब विषयों में श्रेष्ठ पदवी प्राप्त करेगा। मनुष्य ही देश का निर्माण करते हैं। केवल भूखण्ड में क्या रखा है? सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में जब तुम जापानियों के समान सच्चे होगे, तब तुम भी जापानियों की तरह बड़े हो जाओगे। जापानी लोग अपने देश के लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार रहते हैं। इसी लिए वे बड़े बन गये हैं। और तुम लोग? तुम लोग तो कामिनी-कांचन के लिए सर्वस्व त्यागने को प्रस्तुत हो!

प्रश्न—आपकी इच्छा क्या ऐसी है कि भारत जापान के समान हो जाय?

उत्तर—नहीं, कभी नहीं। भारत तो भारत ही रहेगा। भारत कैसे जापान अथवा अन्य किसी दूसरे राष्ट्र के समान हो सकता है? जैसे संगीत में एक मुख्य स्वर होता है और अन्य स्वर

उसके अनुगत होते हैं, वैसे ही प्रत्येक जाति का एक-एक मुख्य भाव हुआ करता है और अन्यान्य भाव उसी के अनुगत होते हैं। भारत का मुख्य भाव है धर्म। समाज-संस्कार कहो अथवा और कुछ, सभी इस देश में गौण हैं। अतः भारत जापान के समान नहीं हो सकता। कहावत है कि जब हृदय खुलता है, तब भावस्रोत उमड़ आता है। भारत का हृदय भी एक दिन अवश्य खुलेगा, तब अध्यात्म-स्रोत प्रवाहित होने लगेगा। भारत तो भारत ही है। हम जापानियों के समान नहीं हैं—हम हिन्दू हैं। भारत का वातावरण ही एक अलौकिक शान्ति प्रदान करता है। मैं यहाँ अविराम कर्म कर रहा हूँ, पर इसी के बीच मुझे विश्राम भी मिल रहा है। भारत में केवल धर्म-कार्यों के अनुष्ठान से ही शान्ति मिल सकती है। यहाँ सांसारिक कार्यों में फँसने से अन्त में मृत्यु होती है—बहुमूत्र के रोग से।

प्रश्न—अच्छा स्वामीजी, जापान की बात छोड़ दीजिए। आपने अमेरिका में जाकर पहले क्या देखा?

उत्तर—आरम्भ से अन्त तक मैंने अच्छा-ही-अच्छा देखा। मिशनरियों और 'गिर्जाघर की औरतों' (Church-women) को छोड़कर शेष सब अमेरिकावाले बड़े अतिथि-परायण, सुन्दर स्वभाववाले और सहृदय हैं।

प्रश्न—स्वामीजी, 'गिर्जाघर की औरतों' का क्या मतलब?

उत्तर—अमेरिकन स्त्रियाँ जब विवाह करने के लिए व्याकुल हो जाती हैं, तब वे समुद्रों के किनारे स्नान के स्थानों में* घूमती रहती हैं, और किसी पुरुष को पकड़ने के लिए

* अमेरिका में समुद्र-तट के अच्छे-अच्छे स्वास्थ्यप्रद स्थानों में नहाने

जितने कौशल कर सकती हैं, करती हैं। जब सारी चेष्टाएँ विफल हो जाती हैं, तब वे चर्च में शामिल हो जाती हैं। तब उनको वहाँ 'ओल्ड मेड' कहते हैं। उनमें से कोई-कोई तो चर्च की बेहद कट्टर भगतिन बन जाती हैं। वे भयकर मतान्ध होती हैं। वे पुरोहितों के आधीन रहती हैं, पुरोहितों के साथ मिलकर वे संसार को नरक में परिणत करती हैं और धर्म को खेल-तमाशे की वस्तु बना डालती हैं। इन्हें छोड़, अमेरिकन लोग बहुत अच्छे हैं। मुझ पर उन लोगों का बड़ा प्यार था, और मेरा भी उन पर बड़ा प्रेम है। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं उन्हीं में से एक हूँ।

प्रश्न—आपकी राय में, शिकागो की धर्म-महासभा से क्या फल हुआ है?

उत्तर—मेरी धारणा है, उस महासभा का उद्देश्य था—संसार के सम्मुख सारे अ-ईसाई धर्मों को हीन ठहराना। परन्तु फल विपरीत ही हो गया। अ-ईसाई धर्म ही प्रधान और ईसाई धर्म हीन ठहर गया। इसलिए ईसाइयों की दृष्टि में उस सभा का उद्देश्य असफल रहा। देखो न, अभी फिर से पैरिस में और एक धर्म-महासभा बुलाने की बात चल रही है; परन्तु रोमन कैथलिक लोग, जो शिकागो धर्म-महासभा के संचालक थे, अब इस कोशिश में लगे हुए हैं कि पैरिस में वह धर्म-महासभा न हो सके। पर शिकागो-सभा भारत और

के लिए अच्छा व्यवस्था रहती है। धनी लोग जलवायु-परिवर्तन के लिए कभी-कभी वहाँ पर आकर ठहरते हैं। इन स्थानों में धनी लोगों के लड़के लड़कियों को आमोद-प्रमोद करने का मौका मिलता है। बहुतों का तो वहीं पर भावी विवाह निश्चित हो जाता है।

भारतीय विचार-धारा के लिए बड़ी यशस्वी साबित हुई। इससे विश्व को वेदान्त के सिद्धान्तों द्वारा आप्लावित करने में सहायता मिली। अब सारी दुनिया वेदान्त की धारा में बह रही है। निश्चय ही शिकागो-सभा के इस परिणाम से अमेरिकावासी बड़े प्रसन्न हैं--हाँ, कट्टर पुरोहितों और 'गिर्जाघर की औरतों' को छोड़कर।

प्रश्न--स्वामीजी, इँगलैण्ड में आपके प्रचार-कार्य की सफलता कैसी मालूम हो रही है?

उत्तर--बहुत आशापूर्ण है। कुछ वर्षों में ही अधिकांश अँगरेज वेदान्ती हो जायँगे। अमेरिका की अपेक्षा इँगलैण्ड का मुझे अधिक भरोसा है। अमेरिकावालों को तो देख ही रहे हो--वे सभी विषयों में एक हो-हल्ला मचाते हैं, यह उनका स्वभाव है। लेकिन अँगरेज ऐसा हो-हल्ला नहीं मचाते। वेदान्त को बिना समझे ईसाई अपने न्यू टेस्टामेन्ट को भी नहीं समझ सकते। वेदान्त ही संसार के सारे धर्मों की युक्ति-संगत व्याख्या है। वेदान्त को छोड़ देने पर सभी धर्म कुसंस्कार मात्र हैं; और वेदान्त को ग्रहण करने से सब ही धर्म हो जाता है।

प्रश्न--आपने अँगरेजों के चरित्र में कौनसा विशेष गुण पाया?

उत्तर--किसी विषय में विश्वास होते ही अँगरेज तत्काल उसे काम में लाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी कार्यशक्ति असाधारण है। अँगरेज पुरुष या स्त्री की अपेक्षा उन्नत नर-नारी संसार में अन्यत्र नहीं दिखते। इसी लिए उन पर मेरा इतना विश्वास है। हाँ, पहले उनके मस्तिष्क में कुछ प्रविष्ट कराना कठिन अवश्य है। बहुत प्रयत्न करने के बाद, लगातार

उसमें लगे रहने से तब कहीं उनके मस्तिष्क में कोई भाव घुसता है, पर एक बार घुस गया, तो फिर वह आसानी से नही निकलता। इँगलैण्ड में किसी भी मिशनरी अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति ने मेरे विरुद्ध कुछ नही कहा—किसी ने भी मेरी किसी प्रकार निन्दा करने की कोशिश नही की। मुझे यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ के मेरे अधिकांश मित्र चर्च आफ इँगलैण्ड के सदस्य हैं। मैंने यह भी जाना कि इस देश में जो मिशनरी लोग आते है, वे इँगलैण्ड के अति निम्न श्रेणी के हैं। कोई भी शिष्ट अँगरेज उनके साथ सम्पर्क नही रखता। यहाँ (भारत) की तरह इँगलैण्ड में भी जाति-विभाग अत्यन्त कड़ा है, और चर्च के अन्तर्भुक्त सारे अँगरेज शिष्ट श्रेणी के होते है। भले ही आपका उनके साथ मतभेद हो, पर इससे आपके साथ उनकी मित्रता में कोई बाधा उपस्थित नही होती। इसलिए मैं अपने स्वदेशवासियों को यह सलाह देना चाहता हूँ कि अब, जब मैंने मिशनरियो का स्वरूप जान लिया है, तो बेहतर यही है कि इन गाली-गलौज करनेवाले मिशनरियों की ओर तनिक भी ध्यान नही देना चाहिए। आखिर हमी ने तो उनको सिर पर चढ़ाया है। अब उनकी पूरी उपेक्षा ही करनी चाहिए।

प्रश्न—स्वामीजी, आप कृपा करके अमेरिका और इँगलैण्ड के समाज-सुधारकों की कार्यप्रणाली के विषय में कुछ बतायँगे?

उत्तर—सारे समाज-सुधारक, कम-से-कम उनके नेता लोग तो अब अपने साम्यवाद आदि की कोई धर्म-भित्ति निकालने की चेष्टा कर रहे हैं, और वह धर्म-भित्ति वेदान्त में

ब्राह्मण बनाना——ब्राह्मण ही मानव-जाति का आदर्श है। यदि भारत का इतिहास पढ़ो, तो देखोगे, यहाँ चिरकाल से निम्न जाति को उन्नत करने के प्रयत्न होते रहे हैं। अनेक जातियों को उन्नत किया भी गया है, और भी बहुतसी भविष्य में होंगी यहाँ तक कि अन्त में सभी ब्राह्मण हो जायँगे। यही हमारी कार्यप्रणाली है। किसी को नीचे नहीं लाना है, वरन् सबको ऊपर उठाना है। और यह काम विशेषकर ब्राह्मणों को ही करना होगा; क्योंकि प्रत्येक सामन्तशाही अथवा विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं अपनी कब्र खोद ले *, और जितना शीघ्र वह ऐसा करे, उतना ही सबके लिए अच्छा है। इसमें बिलकुल देरी नहीं करनी चाहिए। यूरोप व अमेरिका के जाति-विभाग से भारत का जाति-विभाग कई गुना अच्छा है। पर हाँ, मैं यह नहीं कहना चाहता कि भारतीय जाति-विभाग सम्पूर्ण अच्छा है। यदि यहाँ जाति-विभाग न होता, तो तुम कहाँ होते ? जाति-विभाग के न होने से तुम्हारी विद्या या अन्यान्य गुण आदि कहाँ होते ? जाति-विभाग न होता तो यूरोपनिवासियों के पढ़ने के लिए ये शास्त्र आदि फिर कहाँ रहते ! मुसलमानों ने तो इन सबका ध्वंस कर डाला होता। भारतीय समाज क्या कभी भी स्थितिशील रहा ? वह तो सदा ही गतिशील है। कभी-कभी, जैसे विदेशियों की चढ़ाई के समय, यह गति मन्द रही है, और दूसरे समय वह फिर वेगवती हो गयी है। मैं अपने स्वदेशवासियों से यही कहता हूँ।

* विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग यदि अपने धन, विद्या, बुद्धि आदि को सर्वसाधारण के बीच वितरण कर दे, तो वह वर्ग पृथक् न रह जाएगा, अर्थात् वह अपनी कब्र खोद लेगा।

परन्तु यदि मुझे स्वार्थत्यागी युवकों का एक अच्छा दल मिल जाय, जो मेरे साथ काम करने को तैयार हों, तो यह काम कल ही सिद्ध हो सकता है। इसके लिए उत्साह और स्वार्थ-त्याग की मात्रा पर ही इस कार्य-सिद्धि की शीघ्रता अथवा विलम्ब निर्भर है।

प्रश्न—परन्तु यदि उनकी वर्तमान हीन दशा का कारण उनके पिछले कर्म माने जायँ, तो स्वामीजी, आप कैसे समझते हैं कि अनायास ही उसका निवारण हो जायगा, और उनकी सहायता भी आप किस प्रकार करेंगे?

स्वामीजी ने क्षण-भर के लिए भी न रुककर उत्तर दिया, "कर्मवाद ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की शाश्वत घोषणा है। यदि यह सत्य हो कि हम अपने कर्म के द्वारा अपने को हीन दशा में ला सकते हैं, तो कर्म के द्वारा अपनी अवस्था को उन्नत बनाना भी अवश्य हमारे आधीन है। फिर, जनता केवल अपने कर्मों द्वारा ही इस हीन दशा को प्राप्त हुई हो, ऐसा नहीं है। अतः उनकी उन्नति के लिए उनको और भी सुविधा देनी चाहिए। मैं सभी जातियों को बराबर करने को नहीं कहता। जाति-विभाग तो अति उत्तम व्यवस्था है। हम इस जाति-विभाग-प्रणाली का ही अनुसरण करना चाहते हैं। पर यह जाति-विभाग वास्तव में क्या है, इस बात का पता शायद लाखों में एकाध को भी न हो। संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ जाति न हो। भारत में, हम जाति-विभाग में से होकर उससे अतीत भूमि में जाया करते हैं। जाति-विभाग इसी मूल तत्त्व पर प्रतिष्ठित है। भारत में इस जाति-विभाग-प्रणाली का उद्देश्य है सबको

ही पायी जाती है। उनके अनेक नेताओं ने, जो मेरी वक्तृता सुनने आया करते थे, मुझसे कहा है कि नये ढंग से समाज की गठन करने के लिए वेदान्त को ही भित्ति बनानी होगी।

प्रश्न--भारत की सर्वसाधारण जनता के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?

उत्तर--हम बहुत ही गरीब हैं। हमारी साधारण जनता लौकिक विद्या में बड़ी अजान है। परन्तु वे लोग बड़े अच्छे हैं; क्योंकि यहाँ गरीबी अपराध नहीं मानी गयी है। ये लोग कभी दुर्दमनीय नहीं होते। अमेरिका और इँगलैण्ड में मेरी पोशाक से चिढ़कर लोगों ने कई बार मुझे घेर लिया था। परन्तु भारत में किसी की वेश-भूषा से उत्तेजित होकर लोग उसे मारने के लिए दौड़े हों, ऐसी बात तो मैंने कभी नहीं सुनी। अन्यान्य बातों में भी हमारी जनता यूरोप की जनता से कई गुनी सभ्य है।

प्रश्न--भारतीय जनसाधारण की उन्नति के लिए आपके मत में क्या करना उत्तम है ?

उत्तर--उनको लौकिक विद्या सिखानी होगी। हमारे पूर्वज जो प्रणाली दिखा गये हैं, उसी का अनुसरण करना होगा, अर्थात् उच्च-उच्च आदर्शों को धीरे-धीरे जनता में प्रवेश कराना होगा। धीरे-धीरे उनको उठाओ, धीरे-धीरे उनको समता की धरातल पर ले आओ। लौकिक विद्या को भी धर्म के माध्यम से सिखाना होगा।

प्रश्न--परन्तु स्वामीजी, आप क्या ऐसा समझते हैं कि यह काम सहज होगा ?

उत्तर--नहीं, इस काम को धीरे-धीरे ही करना होगा;

परन्तु यदि मुझे स्वार्थत्यागी युवकों का एक अच्छा दल मिल जाय, जो मेरे साथ काम करने को तैयार हों, तो यह काम कल ही सिद्ध हो सकता है। इसके लिए उत्साह और स्वार्थ-त्याग की मात्रा पर ही इस कार्य-सिद्धि की शीघ्रता अथवा विलम्ब निर्भर है।

प्रश्न—परन्तु यदि उनकी वर्तमान हीन दशा का कारण उनके पिछले कर्म माने जायँ, तो स्वामीजी, आप कैसे समझते हैं कि अनायास ही उसका निवारण हो जायगा, और उनकी सहायता भी आप किस प्रकार करेंगे?

स्वामीजी ने क्षण-भर के लिए भी न रुककर उत्तर दिया, "कर्मवाद ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की शाश्वत घोषणा है। यदि यह सत्य हो कि हम अपने कर्म के द्वारा अपने को हीन दशा में ला सकते हैं, तो कर्म के द्वारा अपनी अवस्था को उन्नत बनाना भी अवश्य हमारे आधीन है। फिर, जनता केवल अपने कर्मों द्वारा ही इस हीन दशा को प्राप्त हुई हो, ऐसा नहीं है। अतः उनकी उन्नति के लिए उनको और भी सुविधा देनी चाहिए। मैं सभी जातियों को बराबर करने को नहीं कहता। जाति-विभाग तो अति उत्तम व्यवस्था है। हम इस जाति-विभाग-प्रणाली का ही अनुसरण करना चाहते हैं। पर यह जाति-विभाग वास्तव में क्या है, इस बात का पता शायद लाखों में एकाध को भी न हो। संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ जाति न हो। भारत में, हम जाति-विभाग में से होकर उससे अतीत भूमि में जाया करते हैं। जाति-विभाग इसी मूल तत्त्व पर प्रतिष्ठित है। भारत में इस जाति-विभाग-प्रणाली का उद्देश्य है सबको

ब्राह्मण बनाना--ब्राह्मण ही मानव-जाति का आदर्श है। यदि भारत का इतिहास पढ़ो, तो देखोगे, यहाँ चिरकाल से निम्न जाति को उन्नत करने के प्रयत्न होते रहे हैं। अनेक जातियों को उन्नत किया भी गया है, और भी बहुतसी भविष्य में होंगी, यहाँ तक कि अन्त में सभी ब्राह्मण हो जायँगे। यही हमारी कार्यप्रणाली है। किसी को नीचे नहीं लाना है, वरन् सबको ऊपर उठाना है। और यह काम विशेषकर ब्राह्मणों को ही करना होगा; क्योंकि प्रत्येक सामन्तशाही अथवा विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं अपनी कब्र खोद ले *, और जितना शीघ्र वह ऐसा करे, उतना ही सबके लिए अच्छा है। इसमें बिलकुल देरी नहीं करनी चाहिए। यूरोप या अमेरिका के जाति-विभाग से भारत का जाति-विभाग कई गुना अच्छा है। पर हाँ, मैं यह नहीं कहना चाहता कि भारतीय जाति-विभाग सम्पूर्ण अच्छा है। यदि यहाँ जाति-विभाग न होता, तो तुम कहाँ होते? जाति-विभाग के न होने से तुम्हारी विद्या या अन्यान्य गुण आदि कहाँ होते? जाति-विभाग न होता, तो यूरोपनिवासियों के पढ़ने के लिए ये शास्त्र आदि फिर कहाँ रहते! मुसलमानों ने तो इन सबका ध्वंस कर डाला होता। भारतीय समाज क्या कभी भी स्थितिशील रहा? वह तो सदा ही गतिशील है। कभी-कभी, जैसे विदेशियों की चढ़ाई के समय, यह गति मन्द रही है, और दूसरे समय वह फिर वेगवती हो गयी है। मैं अपने स्वदेशवासियों से यही कहता हूँ। मैं

---

* विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग यदि अपने धन, विद्या, बुद्धि प्रभृति को सर्वसाधारण के बीच वितरण कर दे, तो वह वर्ग पृथक् न रह जायगा, अर्थात् वह अपनी कब्र खोद लेगा।

उनको गाली नहीं देता, उनकी निन्दा नही करता। मैं उनके अतीत की ओर देखता हूँ, और मुझे देख पड़ता है कि जिन परिस्थितियों में से होकर उनको आना पड़ा, उन परिस्थितियों में अन्य कोई भी जाति उनकी अपेक्षा अधिक महान् कार्य नहीं कर सकती थी। मैं उनसे कहता हूँ कि तुमने अतीत में बहुत अच्छा कार्य किया है, अब उससे और भी उत्तम कार्य करने का प्रयत्न करो।

प्रश्न--स्वामीजी, जाति-विभाग के साथ कर्मकाण्ड के सम्बन्ध पर आपका क्या मत है?

उत्तर--जाति-विभाग-प्रणाली निरन्तर बदल रही है और क्रियाकाण्ड भी साथ-ही-साथ निरन्तर बदल रहा है। केवल मूल तत्त्व में कोई परिवर्तन नही होता। हमारा धर्म क्या है यह जानना हो, तो वेदों को पढना होगा। वेदों को छोड़कर अन्य सारे शास्त्र युग के साथ बदलते रहते हैं। वेदों का अनुशासन चिरकाल के लिए है। अन्य शास्त्रों का प्रमाण कुछ निर्दिष्ट समय के लिए ही रहता है। जैसे, एक स्मृति एक युग के लिए और दूसरी दूसरे युग के लिए। बड़े-बड़े महापुरुष, अवतार आदि सदैव आते रहते हैं, और उस-उस युग के लिए कर्तव्य का निर्देश कर जाते हैं। कुछ महापुरुष निम्न जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न कर गये हैं। मध्वाचार्य-जैसे कोई-कोई महापुरुष स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार दे गये हैं। जाति-विभाग कभी मिट नही सकता, पर हाँ, उसको बीच-बीच में नये ढाँचे में ढाल लेना होगा। हमारी प्राचीन समाज-पद्धति के भीतर ऐसी जीवनीशक्ति विद्यमान है, जिससे हजारों प्रकार की नयी प्रणालियाँ गठित हो सकती हैं। जाति-विभाग को मिटाने की

इच्छा कोरा पागलपन है। पुरातन का ही नया रूप या विकास—यही नूतन कार्यप्रणाली है।

प्रश्न——क्या हिन्दुओं के लिए समाज-सुधार की कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर——अवश्य है। प्राचीन काल में बड़े-बड़े महापुरुष समाज की उन्नति के लिए नयी-नयी पद्धतियों का आविष्कार करते थे, और राजा लोग विधान बनाकर उनको प्रचलित कर देते थे। प्राचीन काल में इसी भाँति भारतीय समाज की उन्नति होती थी। वर्तमान काल में इस प्रकार सामाजिक उन्नति करने के लिए एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जिसके परामर्श को सब कोई मान्यता दे। अब हिन्दू राजे नहीं रहे, अब तो लोगों को स्वयं ही अपने सुधार, अपनी उन्नति आदि की चेष्टा करनी होगी। अतः हमें तब तक ठहरना होगा, जब तक लोग शिक्षित होकर अपनी आवश्यकताओं को समझने नहीं लगते और अपनी समस्याओं को आप ही हल करने के लिए तैयार व समर्थ नहीं हो जाते। इससे अधिक दुःख की बात और नहीं हो सकती कि किसी सुधार के समय सुधार के पक्ष में बहुत थोड़े ही लोग मिलते हैं। इसलिए कुछ काल्पनिक सुधारों में, जो कभी कार्य में परिणत न होंगे, व्यर्थ ही शक्ति का क्षय न कर, हमें चाहिए कि हम एकदम जड़ से ही प्रतीकार का प्रयत्न करें——एक ऐसे दल की गठन करें, जो अपने विधान आप ही बना ले। मतलब यह कि इसके लिए लोगों को शिक्षा देनी होगी——इससे वे स्वयं ही अपनी समस्याओं को हल कर लेंगे। अन्यथा ये सारे आकाश-कुसुम ही रह जायँगे। आप ही अपनी उन्नति यही नयी प्रणाली है। इसे कार्य में लाने में देर लगेगी,

विशेषकर भारतवर्ष में; क्योंकि प्राचीन काल में यहाँ बराबर ही राजाओं का शासन होता रहा।

प्रश्न—क्या आप समझते हैं कि हिन्दू-समाज यूरोप के समाज की रीति-नीति को अपनाकर कृतकृत्य हो सकता है?

उत्तर—नहीं, पूरी तरह नहीं। मैं तो यह कहता हूँ कि यूनान की जो विचारधारा यूरोपीय जातियों की बहिर्मुखी शक्ति में प्रकट हो रही है, उसके साथ हिन्दू-धर्म का योग होने पर वह भारत के लिए एक आदर्श समाज होगा। उदाहरण के लिए देखिए, वृथा शक्ति-क्षय न कर और कुछ काल्पनिक व्यर्थ विषयों पर दिन-रात बकवास न कर अँगरेजों से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि आज्ञा पाते ही तत्काल नेता का आदेश किस तरह पालन किया जाय, किस तरह ईर्ष्याहीनता, अदम्य अध्यवसाय और अनन्त आत्म-विश्वास अपने में लाया जाय। एक अँगरेज यदि किसी को अपना नेता स्वीकार कर लेता है, तो फिर सभी अवस्थाओं में वह उसके आज्ञाधीन रहता है। यहाँ भारत में सब कोई नेता बनना चाहते हैं; आज्ञा पालन करनेवाला कोई नहीं है। आदेश देने के पहले प्रत्येक को चाहिए कि वह आदेश का पालन करना सीखें। हमारी ईर्ष्या का कहीं अन्त नहीं है। और जो जितना ही हीनशक्ति होता है, वह उतना ही ईर्ष्यापरायण होता है। जब तक हम हिन्दू इस ईर्ष्या-द्वेष का त्याग न करेंगे, जब तक हम नेता के आज्ञा-पालन की शिक्षा नहीं लेंगे, तब तक हममें संगठन की शक्ति नहीं आ सकती। तब तक हम ऐसे ही बिखरे हुए रहेंगे और कुछ भी न कर सकेंगे। भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर जय पाने की शिक्षा लेनी है; इसी प्रकार यूरोप को भारत से अन्तःप्रकृति पर

इच्छा कोरा पागलपन है। पुरातन का ही नया रूप या विकास—यही नूतन कार्यप्रणाली है।

प्रश्न——क्या हिन्दुओं के लिए समाज-सुधार की कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर——अवश्य है। प्राचीन काल में बड़े-बड़े महापुरुष समाज की उन्नति के लिए नयी-नयी पद्धतियों का आविष्कार करते थे, और राजा लोग विधान बनाकर उनको प्रचलित कर देते थे। प्राचीन काल में इसी भाँति भारतीय समाज की उन्नति होती थी। वर्तमान काल में इस प्रकार सामाजिक उन्नति करने के लिए एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जिसके परामर्श को सब कोई मान्यता दे। अब हिन्दू राजे नहीं रहे, अब तो लोगों को स्वयं ही अपने सुधार, अपनी उन्नति आदि की चेष्टा करनी होगी। अतः हमें तब तक ठहरना होगा, जब तक लोग शिक्षित होकर अपनी आवश्यकताओं को समझने नहीं लगते और अपनी समस्याओं को आप ही हल करने के लिए तैयार व समर्थ नहीं हो जाते। इससे अधिक दुःख की बात और नहीं हो सकती कि किसी सुधार के समय सुधार के पक्ष में बहुत थोड़े ही लोग मिलते हैं। इसलिए कुछ काल्पनिक सुधारों में, जो कभी कार्य में परिणत न होंगे, व्यर्थ ही शक्ति
कि हम एकदम जड़ से ही
दल की गठन करें, जो
यह कि इसके
स्वयं ही
सुध

विशेषकर भारतवर्ष में; क्योंकि प्राचीन काल में यहाँ बराबर ही राजाओं का शासन होता रहा।

प्रश्न—क्या आप समझते हैं कि हिन्दू-समाज यूरोप के समाज की रीति-नीति को अपनाकर कृतकृत्य हो सकता है?

उत्तर—नहीं, पूरी तरह नहीं। मैं तो यह कहता हूँ कि यूनान की जो विचारधारा यूरोपीय जातियों की बहिर्मुखी शक्ति में प्रकट हो रही है, उसके साथ हिन्दू-धर्म का योग होने पर वह भारत के लिए एक आदर्श समाज होगा। उदाहरण के लिए देखिए, वृथा शक्ति-क्षय न कर और कुछ काल्पनिक व्यर्थ विषयों पर दिन-रात बकवास न कर अँगरेजों से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि आज्ञा पाते ही तत्काल नेता का आदेश किस तरह पालन किया जाय, किस तरह ईर्ष्याहीनता, अदम्य अध्यवसाय और अनन्त आत्म-विश्वास अपने में लाया जाय। एक अँगरेज यदि किसी को अपना नेता स्वीकार कर लेता है, तो फिर सभी अवस्थाओं में वह उसके आज्ञाधीन रहता है। यहाँ भारत में सब कोई नेता बनना चाहते हैं; आज्ञा पालन करनेवाला कोई नहीं है। आदेश देने के पहले प्रत्येक को चाहिए कि वह आदेश का पालन करना सीखे। हमारी ईर्ष्या का कहीं अन्त नहीं है। और जो जितना ही हीनशक्ति होता है, वह उतना ही ईर्ष्यापरायण होता है। जब तक हम हिन्दू इस ईर्ष्या-द्वेष का त्याग न करेंगे, जब तक हम नेता के आज्ञा-पालन की शिक्षा नहीं लेंगे, तब तक हममें संगठन की शक्ति नहीं आ सकती। तब तक हम ऐसे ही बिखरे हुए रहेंगे और कुछ भी न कर सकेंगे। भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर जय पाने की शिक्षा लेनी है; इसी प्रकार यूरोप को भारत से अन्तःप्रकृति पर

जय पाने की शिक्षा लेनी है। ऐसा होने पर फिर हिन्दू-यूरोपियन का कुछ भेद-भाव न रहेगा, उभय-प्रकृतिजयी एक आदर्श मनुष्य-समाज का निर्माण होगा। हम मनुष्यत्व के एक पहलू का और वे लोग दूसरे पहलू का विकास कर रहे हैं। आवश्यकता है इन दोनों के मिलन की। मुक्ति जो कि हमारे धर्म का मूलमन्त्र है, उसका यथार्थ अर्थ ही है कायिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता।

प्रश्न——स्वामीजी, धर्म के साथ क्रियाकाण्ड का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर——क्रियाकाण्ड धर्म का 'किण्डरगार्टन' अर्थात् प्राथमिक विद्यालय है। संसार की वर्तमान दशा में उसकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु लोगों को नये-नये अनुष्ठान देने होंगे। इस कार्य की जिम्मेदारी कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों को लेनी चाहिए। पुराने क्रियाकाण्डों को बदलकर नये-नयों का प्रवर्तन करना होगा।

प्रश्न——देखता हूँ, तब तो आप क्रियाकाण्ड को बिलकुल ही हटा देना चाहते हैं ?

उत्तर——नहीं, मेरा मूलमंत्र गठन है, विनाश नहीं। वर्तमान क्रियाकाण्डों से नये क्रियाकाण्डों की रचना करनी होगी। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि सभी विषयों में उन्नति की अनन्त शक्ति है। एक परमाणु के पीछे समग्र विश्व की शक्ति है। हिन्दू-जाति के इतिहास में आज तक विनाश की चेष्टा कभी नहीं हुई, सदैव गठन के ही प्रयत्न होते रहे। यहाँ केवल एक ही सम्प्रदाय ने विनाश की चेष्टा की थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत से निकाल दिया गया——वह था बौद्ध-सम्प्रदाय।

हमारे यहाँ शंकर, रामानुज, चैतन्य आदि अनेक सुधारक हुए हैं; वे सभी उच्च कोटि के सुधारक थे। उन्होंने सर्वदा गठन का ही कार्य किया और देश व काल के अनुसार समाज की रचना की। यही हमारी कार्यप्रणाली की सनातन विशेषता है। हमारे आधुनिक सुधारक यूरोप के ध्वंसात्मक सुधार का अनुकरण करना चाहते हैं। इससे न कभी कुछ लाभ हुआ है, और न होगा। आधुनिक समाज-सुधारकों में एकमात्र राजा राममोहन राय ही रचनात्मक सुधार करनेवालों में से थे। हिन्दू-जाति सदा से वेदान्त के आदर्श को कार्य में परिणत करने की कोशिश करती आयी है। बुरी या अच्छी सभी अवस्थाओं में वेदान्त के इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने की प्राणपण से चेष्टा ही भारत-जीवन का समग्र इतिहास है। जब कभी किसी ऐसे सुधारक सम्प्रदाय या धर्म का उत्थान हुआ, जो वेदान्त के आदर्श को मानने को तैयार न था, उसका तत्काल ही नाश हो गया।

प्रश्न—आपकी भारत के लिए कार्यप्रणाली कैसी है?

उत्तर—मैं अपने संकल्प को कार्य में परिणत करने के लिए दो शिक्षा-केन्द्र स्थापित करना चाहता हूँ। उनमें से एक होगा मद्रास में और दूसरा कलकत्ते में। यदि मेरे संकल्प के विषय में पूछो, तो उसका संक्षेप में यह उत्तर है—वेदान्त के आदर्श को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में परिणत करने का प्रयत्न, चाहे वह व्यक्ति साधु हो या असाधु, ज्ञानी हो या अज्ञानी, ब्राह्मण हो अथवा चाण्डाल।

अब हमारे प्रतिनिधि ने भारत की राजनीतिक समस्या के बारे में कुछ प्रश्न किये, परन्तु उनके उत्तर मिलने के पहले ही गाड़ी मद्रास के एगमोर स्टेशन के प्लैटफार्म पर आ पहुँची।

स्वामीजी के श्रीमुख से इतना ही सुनने को मिला कि वे भारत और इँगलैण्ड की समस्याओं को राजनीति के साथ मिलाने के घोर विरोधी हैं।

इसके पश्चात् हमारे प्रतिनिधि ने विदा ली।

पाश्चात्य देश में प्रथम हिन्दू संन्यासी का प्रचार-कार्य और उनके मत में भारत की उन्नति का उपाय

(मद्रास टाइम्स, फरवरी १८९७)

पिछले कई सप्ताहों से मद्रास की हिन्दू जनता परम उत्सुकता के साथ जगद्विख्यात, हिन्दू यतिश्रेष्ठ स्वामी विवेकानन्द के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। सभी के अधरों पर उन्हीं का नाम खेल रहा है। मद्रास के स्कूल, कालेज, हाईकोर्ट, समुद्र-तट, रास्ते-गलियाँ, बाजार आदि स्थानों में सैकड़ों जिज्ञासु परस्पर पूछ रहे हैं, 'स्वामीजी कब पधार रहे हैं?' विश्वविद्यालय की परीक्षा देने के लिए हजारों विद्यार्थी देहातों से यहाँ आये हुए हैं। परीक्षा के बाद घर लौट आने के लिए माता-पिता का आग्रह होते हुए भी स्वामीजी के दर्शन के लिए वे अभी तक यहीं रुके हुए हैं और होस्टल का खर्च बढ़ा रहे हैं। थोड़े ही दिनों में स्वामीजी हमारे बीच आ पहुँचेंगे। मद्रास प्रेसिडेन्सी के बाहर स्वामीजी की जैसी अभ्यर्थना हुई है, कैसल कर्नन में, जहाँ ये महापुरुष ठहराये जायँगे, हिन्दू जनता के व्यय से जो सब तोरण और वंदनवार सजाये जा रहे हैं तथा नगर के माननीय न्यायमूर्ति सुब्रमनियम अय्यर जैसे प्रतिष्ठित हिन्दू सज्जन इस कार्य में जैसी दिलचस्पी ले रहे हैं, यह सब देखकर तो इसमें सन्देह नहीं होता कि स्वामीजी का यहाँ बड़ा भव्य स्वागत होगा। मद्रास ने ही स्वामीजी की उच्च प्रतिभा को सबसे पहले पहचानकर शिकागो-धर्मसभा में भाग लेने के लिए उनकी सारी व्यवस्था की थी। वही मद्रास अब फिर से उन महापुरुष का,

जिन्होंने अपनी मातृभूमि के गौरव की वृद्धि के लिए इतना किया, स्वागत करने का अवसर और गौरव प्राप्त करेगा। निस्सन्देह, स्वामीजी एक महापुरुष हैं। चार वर्ष पहले जब वे यहाँ पधारे थे, उस समय वास्तव में वे एक अज्ञात व्यक्ति थे। सेन्ट टॉम के एक अपरिचित बँगले में वे लगभग दो मास रहे, और उस बीच जो-जो उनके पास जाते, उनके साथ वे धर्मविषयक वार्तालाप करते और उन्हें शिक्षा प्रदान करते। उनसे प्रभावित होकर कुछ शिक्षित बुद्धिमान युवक उन्हीं दिनों कहा करते थे कि इनके भीतर कुछ ऐसी अलौकिक शक्ति है, जो अवश्य इन्हें असाधारण श्रेष्ठ पद पर आरूढ़ करेगी तथा विश्व-नेतृत्व प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करेगी। लोग उस समय इन युवकों को 'गुमराह अनुरागी', 'ख्वाबी सुधारक' कहकर इनसे घृणा करते थे। वे ही नवयुवक आज 'अपने स्वामीजी' को—वे स्वामीजी को इसी तरह पुकारना पसन्द करते हैं—यूरोप तथा अमेरिका से इतनी ख्याति प्राप्त करके लौटे हुए देखकर परम सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं। स्वामीजी के प्रचार का विषय मुख्यत: आध्यात्मिकता है। उनका दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता की जननी, इस भारतभूमि का भविष्य परम उज्ज्वल है। उनकी यह दृढ़ धारणा है कि वे वेदान्त के जिन उदात्त सत्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनका दिनों-दिन पाश्चात्य देशों में अधिकाधिक प्रसार होगा तथा उनके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ेगी। उनका मूल-मन्त्र है—'सहायता, न कि विरोध', 'दूसरे के भावों का परिपचन, न कि विनाश', 'समन्वय और शान्ति, न कि कलह।' दूसरे धर्ममतावलम्बियों का स्वामीजी से चाहे जो भी मतभेद रहे, पर ऐसा कोई विरला ही होगा,

जो इस बात को स्वीकार न करे कि स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों को हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता दिखाकर उनकी आँखें खोल दी हैं, और इस प्रकार उन्होंने अपने देश की अद्वितीय सेवा की है। चिरकाल तक लोग इस बात को स्मरण रखेंगे कि वे ही सर्व-प्रथम हिन्दू-संन्यासी थे, जिन्होंने समुद्र-पार जाने का साहस किया और पाश्चात्य देशों को यह सन्देश सुनाया, जिसे वे धर्म-समन्वय का सन्देश मानते हैं।

हमारे पत्र के एक प्रतिनिधि ने स्वामी विवेकानन्द से, *अमेरिका में उनके धर्मप्रचार-कार्य की सफलता के सम्बन्ध में* जानकारी प्राप्त करने के लिए भेंट की। स्वामीजी ने हमारे तिनिधि का बड़ी सज्जनता से स्वागत किया और उन्हें अपने पास की एक कुर्सी पर स्थान ग्रहण करने के लिए कहा। स्वामीजी गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए थे, उनकी आकृति धीर, स्थिर, शान्त और महिमाव्यंजक थी। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत हुआ, *मानो वे किसी भी प्रश्न का उत्तर देने को प्रस्तुत हैं।* हमारे प्रतिनिधि ने सांकेतिक-लिपि (short-hand) में स्वामीजी के शब्दों को जैसा लिखा, वैसा ही हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

हमारे प्रतिनिधि ने पूछा, "स्वामीजी, क्या मैं आपके बाल्य-जीवन के सम्बन्ध में कुछ जान सकता हूँ?"

स्वामीजी बोले, "कलकत्ते में जब मैं विद्यालय में अध्ययन करता था, तभी से मेरी प्रकृति धर्मप्रवण थी। उस समय से ही मेरा ऐसा स्वभाव था कि सभी विषयों की परीक्षा करके फिर उन्हें ग्रहण करना—केवल शब्दों से मैं कभी तृप्त नहीं होता था। इसके थोड़े दिन बाद ही रामकृष्ण परमहंस के साथ मेरी भेंट

हुई। उनके आश्रय में मैं दीर्घ काल तक रहा और उनसे धर्मतत्व की शिक्षा प्राप्त की। अपने गुरुदेव के देह-त्याग के बाद मैं भारत-परिभ्रमण के लिए निकला और कलकत्ते में एक छोटासा मठ स्थापित किया। भ्रमण करते हुए मैं मद्रास आया, और मैसूर के स्वर्गीय राजा तथा रामनद के राजा से मुझे सहायता प्राप्त हुई।"

प्रश्न—आप पाश्चात्य देशों में हिन्दू-धर्म का प्रचार करने क्यों गये थे ?

उत्तर—मुझे पाश्चात्य देशों के विषय में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हुई थी। मेरे मत से, हमारी जातीय अवनति का मूल कारण है—दूसरी जातियों या राष्ट्रों से मेल-जोल न रखना। यही हमारी अवनति का मुख्य कारण है। पाश्चात्य देशों के साथ परस्पर भाव-विनिमय करने का अवसर हमें कभी नहीं मिला। हम चिरकाल से कूप-मण्डूक बने हुए हैं।

प्रश्न—आपने पाश्चात्य देश के बहुत से स्थानों में भ्रमण किया होगा ?

उत्तर—मैंने यूरोप के बहुत से स्थानों में भ्रमण किया है। मैं जर्मनी और फ्रान्स भी गया था, पर मेरा कर्मक्षेत्र मुख्यतः इँगलैण्ड और अमेरिका ही रहा। पहले तो मैं कुछ कठिनाई में पड़ गया था; क्योंकि भारतवर्ष से जो लोग वहाँ पहुँचे थे, प्रायः उन सबों ने भारतीयों के विरुद्ध पक्ष का अवलम्बन किया था। पर यह मेरा चिरन्तन विश्वास है कि भारतवासी सारे संसार में सबसे अधिक नीतिपरायण और धार्मिक हैं। इसलिए हिन्दू के साथ इस विषय में अन्य किसी जाति की तुलना करना बिलकुल भूल है। सर्वसाधारण के सामने जब मैं हिन्दू-जाति के श्रेष्ठत्व

का प्रचार करने लगा, तो पहले-पहल बहुत से लोगों ने मेरी भयंकर निन्दा करना शुरू किया, यहाँ तक कि वे मेरे विरुद्ध नाना प्रकार की अफवाहें फैलाते भी नहीं हिचकिचाए। वे कहा करते थे कि वह (स्वामी विवेकानन्द) तो एक पाखण्डी है, धूर्त है। उसके बहुतसी स्त्रियाँ हैं और बाल-बच्चे तो ढेर-के-ढेर हैं। पर इन धर्मप्रचारकों (मिशनरियों) के सम्बन्ध में मेरी अभिज्ञता जितनी अधिक होती गयी, उतनी ही मेरी आँखें इस सम्बन्ध मे खुल गयी कि धर्म के नाम पर कहाँ तक अधर्म हो सकता है। इँगलैण्ड में इस प्रकार मिशनरियों का उपद्रव बिलकुल नहीं था। वहाँ के मिशनरियों में से कोई भी मेरे साथ लड़ने नहीं आया। मिस्टर लैण्ड नामक एक पादरी पीठ पीछे मेरी निन्दा करने अमेरिका गया था, पर उसकी बातों पर किसी ने कान न दिया। मैं अमेरिका में लोगों का बड़ा ही प्रियपात्र हो गया था। जब मैं इँगलैण्ड वापस आया, तो मैंने सोचा कि यह मिशनरी मेरे विरुद्ध कुछ प्रचार करेगा; परन्तु 'ट्रुथ' (Truth) नामक संवादपत्र ने उसका मुँह बन्द कर दिया। इँगलैण्ड की सामाजिक प्रणाली भारत के जाति-विभाग से भी अधिक कठोर है। इँगलिश चर्च के सभी प्रचारक खानदानी लोग हैं; पर मिशनरियों में से अधिकांश वैसे नहीं है। इँगलिश चर्चवालों ने मेरे साथ बहुत ही सहानुभूति प्रकट की। इँगलिश चर्च के लगभग तीस प्रचारक धर्मविषयक सभी प्रकार के विवादास्पद जटिल विषयों में मेरे साथ सम्पूर्ण रूप से एकमत हैं। और मैंने यह भी देखा कि यद्यपि इँगलैण्ड के मिशनरी या पादरी लोग उन विषयों में मेरे साथ मतभेद रखते थे, फिर भी उन्होंने पीठ पीछे मेरी निन्दा नहीं की। इससे मुझे आनन्द भी

रहा है, इसलिए वहाँ अब अनेक लोग त्याग के लिए प्रस्तुत हैं। जब मैं पहली बार इँगलैण्ड गया और वहाँ वक्तृता देना प्रारम्भ किया, तो मेरी कक्षा में केवल पचीस-तीस विद्यार्थी आते थे। जब मैं वहाँ से अमेरिका चला गया, तब भी वहाँ वैसा ही क्लास चलता रहा। बाद में अमेरिका से पुनः जब मैं इँगलैण्ड आया, तब तो एक-एक हजार श्रोतागण उपस्थित रहते थे। अमेरिका में उससे भी अधिक श्रोता उपस्थित होते थे, क्योंकि मैं अमेरिका में तीन वर्ष रहा और इँगलैण्ड में बस एक ही वर्ष। मैं इँगलैण्ड में एक सन्यासी को रख आया हूँ और वैसे ही अमेरिका में भी। दूसरे देशों में भी इसी प्रकार प्रचार-कार्य के लिए सन्यासी भेजने की मेरी इच्छा है।

"अँगरेज लोग बड़े दृढ़कर्मी है। यदि उनमें किसी भाव का प्रवेश करा दिया जाय, अर्थात् यदि वे उस भाव को वास्तव में अपना लें, तो निश्चित जानें, वह व्यर्थ न जायगा। हमारे देश के लोगों ने अब वेदों को तिलांजलि दे दी है; उनका सारा धर्म और दर्शन अब रसोईघर में घुस गया है। 'छुआछूत-वाद' ही भारत का वर्तमान धर्म है—इस धर्म को अँगरेज कभी भी न लेंगे। पर हमारे पूर्वपुरुषों के उदात्त विचारों को, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक जगत् में उनके द्वारा आविष्कृत अपूर्व तत्त्वों को संसार की प्रत्येक जाति आदरपूर्वक ग्रहण करेगी। इँगलिश चर्च के बड़े-बड़े नेता लोग भी कहते थे कि आपकी चेष्टा से हमारी बाइबिल के भीतर वेदान्त के भाव प्रविष्ट हो गये हैं। आधुनिक हिन्दू-धर्म हमारे प्राचीन धर्म का एक अवनत रूप मात्र है। पाश्चात्य देशों में आजकल जो सब दार्शनिक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, उनमें ऐसा एक भी न होगा, जिसमें हमारे वेदान्त-

धर्म का कुछ-न-कुछ प्रसंग न हो। हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ तक में भी ऐसा ही है। अब तो दर्शन के राज्य में अद्वैतवाद का ही प्रभुत्व है। सभी अब उसी की बातें करते हैं। परन्तु यूरोप के लोग उसमें भी अपनी मौलिकता दिखाना चाहते हैं! इधर हिन्दुओं के प्रति वे अत्यन्त घृणा प्रदर्शित करते हैं, और उधर हिन्दुओं के द्वारा प्रचारित सत्यों को ग्रहण करना भी नहीं छोड़ते। प्रोफेसर मैक्समूलर तो पूर्ण वेदान्ती हैं। उन्होंने वेदान्त के लिए बहुत-कुछ किया है। वे पुनर्जन्मवाद में विश्वास करते हैं।"

प्रश्न--भारत के पुनरुद्धार के लिए आप क्या करना चाहते हैं?

उत्तर--मेरी समझ में देश के जनसाधारण की अवहेलना करना ही हमारा महान् जातीय पाप है, और वह हमारी अवनति का एक कारण है। जब तक भारत की साधारण जनता उत्तम रूप से शिक्षित नहीं हो जाती, जब तक उसे खाने-पीने को अच्छी तरह नहीं मिलता, जब तक उसकी अच्छी तरह देख-भाल नहीं होती, तब तक कितना ही राजनीतिक आन्दोलन क्यों न हो, उससे कुछ फल न होगा। ये बेचारे गरीब हमारी शिक्षा के लिए (राज-कर के रूप में) पैसा देते हैं, हमारी धार्मिक सिद्धि के लिए (अपने शारीरिक) परिश्रम से बड़े-बड़े मन्दिर खड़े करते हैं; पर इसके बदले उनको चिरकाल ठोकरों के सिवाय और क्या मिला है? वास्तव में वे हमारे गुलाम ही बन गये हैं। यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा। युवकों को धर्म-प्रचारक के रूप में शिक्षित करने के लिए मैं पहले दो केन्द्रीय

शिक्षालय अर्थात् मठ की स्थापना करना चाहता हूँ। उनमें से एक तो मद्रास में होगा और दूसरा कलकत्ते में। कलकत्ते का मठ स्थापित करने के लिए आवश्यक अर्थ प्राप्त हो गया है। मेरे उद्देश्य को सफल करने के लिए अंगरेज लोग ही पैसा देने को तैयार हैं।

"मेरी आशा, मेरा विश्वास नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर है। उन्हीं में से मैं अपने कर्मियों का संग्रह करूँगा। वे सिंह-विक्रम से देश की यथार्थ उन्नति सम्बन्धी सारी समस्या का समाधान करेंगे। वर्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को मैंने एक निर्दिष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है, और उसको कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। यदि मुझे इसमें सफलता न मिले, तो मेरे बाद मुझसे कोई श्रेष्ठ व्यक्ति भविष्य में जन्म ग्रहण कर उसे कार्य में परिणत करेगा। मैं उसके लिए जी-जान से प्रयत्न करके ही सन्तुष्ट रहूँगा। मेरी राय में वर्तमान भारत की समस्या के समाधान का एक-मात्र उपाय यही है कि सर्वसाधारण को उनके अधिकार दे दिये जायँ। संसार में भारत का धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, फिर भी हम चिरकाल से जनसाधारण को कुछ निःसार चीजें देकर ही भुलाते आ रहे हैं। सामने अनन्त प्रवाह बह रहा है, फिर भी हम उन्हें नाली का पानी ही पिला रहे हैं। देखिए न, मद्रास का ग्रेजुएट एक निम्न जाति के व्यक्ति को स्पर्श तक न करेगा, परन्तु अपनी शिक्षा की सहायता के लिए उससे (राज-कर के रूप में अथवा अन्य किसी प्रकार से) धन लेने को तैयार है! मैं, सर्वप्रथम, धर्म-प्रचारकों की शिक्षा के लिए पूर्वोक्त दो शिक्षालय स्थापित करना चाहता हूँ—वे सर्वसाधारण को धर्म

और लौकिक दोनों विद्याओं की शिक्षा प्रदान करेंगे। वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र का विस्तार करेंगे--और इस प्रकार हम धीरे-धीरे समग्र भारत में फैल जायँगे। आत्मविश्वास लाना ही हमारा सबसे प्रधान कर्तव्य है; यहाँ तक कि भगवान में विश्वासी होने से पहले सबको अपने में विश्वास लाना होगा। पर यह दुःख की बात है कि हम भारतवासी दिनोंदिन इस आत्मविश्वास को खो रहे हैं। इसी लिए मैं सुधारकों के विरुद्ध इतना कहा करता हूँ। कट्टर लोगों के भाव यद्यपि अपक्व और अप्रौढ़ होते हैं, पर उनमें आत्मविश्वास अधिक है, और इसी लिए उनके मन में तेज भी अधिक है। परन्तु यहाँ के सुधारक तो यूरोपियनों के हाथ की कठपुतली बनकर उनके अहंकार के पोषक ही हो रहे हैं। अन्यान्य देशों की तुलना में हमारे देश की साधारण जनता देवतुल्य है। भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ दरिद्रता को पाप नहीं माना जाता। भारत के निम्न जातिवाले भी मानसिक और शारीरिक दोनों दृष्टि से सुन्दर हैं, पर उनके प्रति हमारी सतत घृणा के कारण वे आत्मविश्वास खो बैठे हैं। वे समझते हैं कि वे गुलाम होकर ही संसार में आये हैं। उन्हें उनके अधिकार दे दो, बस देखोगे, वे अपने पैरों उठ खड़े होंगे। जनसाधारण को इस प्रकार अधिकार प्रदान करना ही अमेरिकन सभ्यता का महत्त्व है। एक आयरलैण्ड-निवासी की बात मन में लाइए, जो अभी जहाज से आया है,--उसकी कमर झुकी हुई है, एक लकुटी के सहारे टेककर चल रहा है--भूख से अधमरा, चिथड़ों की एक गठरी कन्धे पर लिये हुए। पर अमेरिका में कुछ ही महीने रहने के बाद उसे देखिए। उसकी शकल बदल जाती है और अब तो

वह निडर हो तनकर चलता है। कारण, वह ऐसे देश से आया था, जहाँ वह अपने को गुलाम ही समझता था, पर आज वह एक ऐसे देश में आ गया है, जहाँ सभी परस्पर भाई-भाई हैं और सबको समान अधिकार प्राप्त हैं।

"विश्वास करना होगा कि आत्मा अविनाशी है, अनन्त और सर्वशक्तिमान है। मेरा विश्वास है कि गुरु से साक्षात् सम्पर्क रखते हुए, गुरु-गृह में निवास करने से ही यथार्थ शिक्षा की प्राप्ति होती है। गुरु से साक्षात् सम्पर्क हुए बिना किसी प्रकार की शिक्षा नहीं हो सकती। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों की ही बात लीजिए। उनका आरम्भ हुए पचास वर्ष हो गये, पर फल क्या मिला है? वे एक भी मौलिक-भाव-सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सके। वे परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ मात्र हैं। साधारण जनता की जागृति और उसके कल्याण के लिए स्वार्थ-त्याग की मनोवृत्ति का हममें थोड़ा भी विकास नहीं हुआ है।"

प्रश्न—श्रीमती बेसेन्ट और थियासॉफी के विषय में आपका क्या मत है?

उत्तर—श्रीमती बेसेन्ट एक बड़ी अच्छी महिला हैं। उन्होंने मुझे अपने लन्दन के वक्तृता-गृह (Lodge) में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया था। मैं व्यक्तिगत रूप से उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं जानता। पर यह सच है कि हमारे धर्म के विषय में उनका ज्ञान बहुत ही अल्प है। उन्होंने इधर-उधर से थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त कर ली है, सम्पूर्ण रूप से हिन्दू-धर्म का अध्ययन नहीं किया। पर उनकी दृढ़ता और निष्कपटता को उनके शत्रु तक सराहेंगे। इँगलैण्ड में वे

सर्वश्रेष्ठ वक्ता मानी जाती हैं। वे एक संन्यासिनी हैं। पर मैं 'महात्मा', 'कुथुमि' आदि में विश्वास नहीं करता। वे थियासॉफिकल सोसाइटी के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ दें, अपने पैरों पर खड़ी हों और जिसे सत्य समझती हों, उसका प्रचार करें।

समाज-सुधार के विषय में बात चलने पर स्वामीजी ने विधवा-विवाह के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया— "मैंने आज तक ऐसा कोई राष्ट्र नहीं देखा, जिसकी उन्नति या नियति उसकी विधवाओं के पतियों की संख्या पर निर्भर हो।"

हमारे प्रतिनिधि जानते थे कि और भी बहुत से लोग स्वामीजी से मिलने के लिए नीचे प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने स्वामीजी को उनके इस कष्ट के लिए धन्यवाद देकर उनसे विदा ली।

यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि स्वामीजी के साथ मिस्टर और मिसेज जे. एच. सेविअर, मि० टी. जी. हैरिसन (कोलम्बो के एक बौद्ध सज्जन) और मि० जे. जे. गुडविन भी हैं। मि० और मिसेज सेविअर स्वामीजी के साथ इस देश में हिमालय में निवास करने की इच्छा से आये हैं। स्वामीजी के जिन पाश्चात्य शिष्यों की भारत में निवास करने की इच्छा होगी, उनके लिए हिमालय में आश्रम बनाने का संकल्प उनके मन में है। बीस साल तक वे (मि० और मिसेज सेविअर) किसी विशेष धर्मसम्प्रदाय के अनुयायी नहीं बने थे। विभिन्न सम्प्रदायों के प्रचारकों से धर्म के बारे में वे जो कुछ सुनते थे, उससे उनकी तृप्ति नहीं होती थी। पर स्वामीजी के कुछ भाषण

सुनते ही उनको ऐसा लगने लगा कि उन्हें अब ऐसे धर्म की प्राप्ति हो गयी है जिससे उनका हृदय और बुद्धि दोनों ही तृप्त हो गये हैं। उसके बाद वे स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी और इटली आदि स्थानों में स्वामीजी के साथ भ्रमण करते हुए अब भारत में आये हैं। मि० गुडविन इंगलैण्ड में एक संवादपत्र के संचालक थे। सोलह महीने पहले न्यूयार्क में स्वामीजी से उनकी प्रथम भेंट हुई थी। धीरे-धीरे वे भी स्वामीजी के शिष्य हो गये और पत्र का काम उन्होंने छोड़ दिया। अब उन्होंने स्वामीजी की सेवा में ही तन-मन अर्पित कर दिया है और उनके साथ निरन्तर रहकर उनके सब भाषणों को सांकेतिक लिपि में लिखा करते हैं। वे सब प्रकार से स्वामीजी के सच्चे शिष्य हैं और कहा करते हैं, "आशा करता हूँ कि मैं आमरण स्वामीजी के साथ रहूँगा।"

उत्तर और कौन है? रहस्य यहीं पर है। मानव-जीवन सागर के समान गम्भीर हो, पर साथ-ही-साथ वह आकाश की भाँति विस्तृत भी हो।

स्वामीजी कहते चले, "यह एक आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी, जब बाह्य परिस्थितियाँ सङ्कीर्णता की पोषक एवं उन्नति के प्रतिकूल रही है, तब आध्यात्मिक जीवन का बड़े गम्भीर रूप से विकास हुआ है। पर इन दो विपरीत भावों का एकत्र अवस्थान एक आकस्मिक घटना मात्र है—अनिवार्य नहीं। यदि हम यहाँ भारत में अपने को सुधारें, तो दुनिया भी सुधर जायगी; क्योंकि मूलत: क्या हम सब एक नहीं हैं?"

प्रश्न—स्वामीजी, आपकी अन्तिम बातें मन में एक और प्रश्न उठाती हैं। इस प्रबुद्ध हिन्दू-धर्म में श्रीरामकृष्ण का स्थान कहाँ पर है?

स्वामीजी बोले, "इस विषय की मीमांसा करना मेरा कार्य नहीं है। मैंने कभी भी किसी व्यक्तिविशेष का प्रचार नहीं किया। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मेरा स्वयं का जीवन इस महात्मा के प्रति गम्भीर श्रद्धा और भक्ति से परिचालित हो रहा है; पर मेरा यह भाव दूसरे लोग कहाँ तक ग्रहण करेंगे, यह तो उन्हीं पर निर्भर है। ईश्वरी शक्ति-स्रोत संसार में चिरकाल किसी एक ही निर्दिष्ट जीवन-प्रणाली से प्रवाहित नहीं होती, चाहे वह जीवन कितना भी महान् क्यों न हो। प्रत्येक युग में नये सिरे से पुनः इस शक्ति की प्राप्ति करनी होगी। कारण, हम सब भी क्या ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं?"

प्रश्न—धन्यवाद। मुझे आपसे बस एक प्रश्न और पूछना है। आपने अपने [illegible] अपने प्रचार-कार्य का

जातीय भित्ति पर हिन्दू-धर्म का पुनः संस्थापन

(प्रबुद्ध भारत, सितम्बर १८९८)

हाल ही में 'प्रबुद्ध भारत' के एक प्रतिनिधि कुछ विषयों में स्वामी विवेकानन्द का मतामत जानने के लिए उनसे मिलने आये थे। उन्होंने उन आचार्यश्रेष्ठ से पूछा, "स्वामीजी, आपके मतानुसार आपके धर्म-प्रचार का विशेषत्व क्या है ?"

प्रश्न सुनते ही स्वामीजी ने उत्तर दिया, "Aggression (प्रथम आक्रमण)—पर हाँ, केवल आध्यात्मिक अर्थ में। अन्यान्य समाजों और सम्प्रदायों ने केवल भारत में ही प्रचार किया है, परन्तु बुद्धदेव के बाद हम ही पहले-पहल भारत की सीमा को लाँघकर समग्र संसार में धर्म-प्रचार की लहरें फैलाने के प्रयत्न कर रहे हैं।"

प्रश्न—और आपके मत में, आपके द्वारा प्रवर्तित इस धर्म विषयक आन्दोलन से भारत का कौनसा उद्देश्य साधित होगा ?

उत्तर—इससे हिन्दू-धर्म के सर्वसामान्य मूलतत्त्वों पर प्रकाश पड़ेगा और वे तत्त्व समग्र जाति के सम्मुख जीवित रूप में पुनः स्थापित होंगे। वर्तमान काल में हिन्दू कहने से भारत के तीन सम्प्रदाय समझे जाते हैं। पहला—कट्टरपन्थी अर्थात् लकीर के फकीर; दूसरा—मुसलमानों के समय के सुधारक सम्प्रदाय; और तीसरा—वर्तमानकालीन समाज-सुधारक संघ। परन्तु उत्तर से दक्षिण तक सम्पूर्ण भारत में केवल एक ही [illegible] सारे हिन्दुओं का एकमत दिखायी पड़ता है, और वह [illegible]भक्षण का निषेध।

प्रश्न—क्या वेद के प्रति विश्वास के विषय में सभी एकमत नहीं हैं?

उत्तर—बिलकुल नहीं। बस इसी को हम पुनः प्रबुद्ध कराना चाहते हैं। भारत आज तक बुद्धदेव के भाव को अपना नहीं सका। बुद्धदेव की वाणी सुनकर प्राचीन भारत केवल मन्त्रमुग्ध-जैसा चकित रह गया था—नवीन बल से संजीवित नहीं हुआ था।

प्रश्न—वर्तमान काल में आप बौद्ध-धर्म के प्रभाव को भारत में किन विषयों में देख रहे हैं?

उत्तर—बौद्ध-धर्म का प्रभाव भारत में सर्वत्र ही स्पष्ट दिखायी देता है। एक बात तुम देखोगे, भारत कभी भी किसी प्राप्त वस्तु को नष्ट नहीं होने देता; हो सकता है कि उसे अपनाने में, उसे अपने रक्त-मांस के साथ एक कर लेने में कुछ समय लगता हो। बुद्धदेव ने यज्ञ में प्राणी-हिंसा का पूर्ण निषेध किया था; भारत आज तक उस शिक्षा को त्याग नहीं सका। बुद्धदेव ने कहा, 'गोहत्या मत करो'—अब देखो, गो-हत्या हमारे लिए असम्भव हो गयी है।

प्रश्न—स्वामीजी, आपने पहले जिन तीन सम्प्रदायों के नाम बताए हैं, उनमें से आप अपने को किस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं।

उत्तर—मैं तो उक्त सभी सम्प्रदायों के अन्तर्गत हूँ। हमी ठीक कट्टर हिन्दू हैं।

यह कहते ही स्वामीजी का मुखमण्डल बड़ा गम्भीर हो गया और वे बड़े आवेग-भरे स्वर में बोले, "किन्तु छुआछूत-वादियों के साथ हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं। छुआछूत हिन्दू-

धर्म नहीं है, उसकी बात हमारे किसी भी शास्त्र में नहीं है। वह तो एक कुसंस्कार मात्र है, जिसका अनुमोदन कोई भी प्राचीन आचार नहीं करता। वह सदा से जातीय अभ्युदय के मार्ग में रोड़े डालता रहा है।"

प्रश्न—तब तो असल में आप जातीय अभ्युत्थान को ही चाहते हैं?

उत्तर—अवश्य। अच्छा, क्या तुम यह बता सकते हो कि भारत अन्य सब आर्य जातियों से पिछड़ा हुआ क्यों रहे? भारत की बुद्धि क्या कुछ कम है? क्या यहाँ कला-कौशल नहीं है? उसका शिल्प, उसका गणित, उसके दर्शनशास्त्र आदि का विचार करने पर क्या तुम किसी विषय में उसे कम कह सकते हो? आवश्यक इतना ही है कि वह मोह-निद्रा से—सैकड़ों सदियों की दीर्घ निद्रा से जाग जाय, और संसार की समग्र जातियों के बीच उसका जो यथार्थ कार्य है, उसे ग्रहण कर ले।

प्रश्न—परन्तु, स्वामीजी, बात यह है कि भारत तो चिरकाल से ही गम्भीर अन्तर्दृष्टिसम्पन्न है। अब उसे कर्मकुशल बनाने की चेष्टा करने से उसकी जो एकमात्र धर्म-निधि है, उससे वंचित होने की क्या आशंका नहीं है?

उत्तर—नहीं, तनिक भी नहीं। अतीत के इतिहास से प्रतीत होता है कि आज तक भारत में आध्यात्मिकता या अन्तर्जीवन का, तथा पाश्चात्य में कर्मकुशलता अर्थात् बहिर्जीवन का ही विकास होता रहा है। आज तक ये दोनों विपरीत मार्ग से उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे थे; पर अब इन दोनों के सम्मिलन का समय आ गया है। रामकृष्ण परमहंस गम्भीर [illegible] थे; परन्तु बहिर्जगत् में भी उनके समान कर्म-

तत्पर और कौन है ? रहस्य यही पर है। मानव जीवन सागर के समान गम्भीर हो, पर साथ-ही-साथ वह आकाश की भाँति विस्तृत भी हो।

स्वामीजी कहते चले, "यह एक आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी, जब बाह्य परिस्थितियाँ संकीर्णता की पोषक एवं उन्नति के प्रतिकूल रही है, तब आध्यात्मिक जीवन का बड़े गम्भीर रूप से विकास हुआ है। पर इन दो विपरीत भावों का एकत्र अवस्थान एक आकस्मिक घटना मात्र है—अनिवार्य नही। यदि हम यहाँ भारत में अपने को सुधारे, तो दुनिया भी सुधर जायगी; क्योकि मूलतः क्या हम सब एक नही है ?"

प्रश्न—स्वामीजी, आपकी अन्तिम बाते मन में एक और प्रश्न उठाती है। इस प्रबुद्ध हिन्दू-धर्म में श्रीरामकृष्ण का स्थान कहाँ पर है ?

स्वामीजी बोले, "इस विषय की मीमासा करना मेरा कार्य नही है। मैने कभी भी किसी व्यक्तिविशेष का प्रचार नही किया। मै इतना ही कह सकता हूँ कि मेरा स्वय का जीवन इस महात्मा के प्रति गम्भीर श्रद्धा और भक्ति से परिचालित हो रहा है; पर मेरा यह भाव दूसरे लोग कहाँ तक ग्रहण करेगे, यह तो उन्ही पर निर्भर है। ईश्वरी शक्ति-स्रोत संसार में चिरकाल किसी एक ही निर्दिष्ट जीवन-प्रणाली से प्रवाहित नही होती, चाहे वह जीवन कितना भी महान् क्यो न हो। प्रत्येक युग में नये सिरे से पुनः इस शक्ति की प्राप्ति करनी होगी। कारण, हम सब भी क्या ब्रह्मस्वरूप नहीं है ?"

प्रश्न—धन्यवाद। मुझे आपसे बस एक प्रश्न और है। आपने अपने देशवासियो के लिए अपने प्रचा

उद्देश्य तथा प्रयोजन बतला दिया है। इसी तरह क्या आप उसके साधन के विषय में भी कुछ बतलाने की कृपा करेंगे?

स्वामीजी ने कहा, "हमारी कार्यप्रणाली का वर्णन सहज है। वह और कुछ नहीं, केवल जातीय जीवन-आदर्श को फिर से स्थापित करना है। बुद्धदेव ने त्याग का प्रचार किया—भारत ने सुना और छः शताब्दियाँ बीतने के पहले ही वह अपने सर्वोच्च गौरव-शिखर पर आरूढ़ हो गया। यही रहस्य है। 'त्याग' और 'सेवा' ही भारत के जातीय आदर्श हैं—इन दो बातों में भारत को उन्नत करो। ऐसा होने पर सब कुछ अपने आप ही उन्नत हो जायगा। इस देश में आध्यात्मिकता का झंडा कितना ही ऊँचा क्यों न किया जाय, पर वह पर्याप्त नहीं होता। बस इसी पर भारत का उद्धार निर्भर है।"

भारतीय नारी—उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य

(प्रबुद्ध भारत, दिसम्बर १८९८)

हमारे प्रतिनिधि लिखते हैं:—

आखिर एक रविवार को बड़े सवेरे ही मैं सम्पादक महोदय का आदेश पालन करने में समर्थ हुआ। भारतीय नारियों की अवस्था और उनके भविष्य के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का मतामत जानने के लिए मैंने उनसे हिमालय की एक सुन्दर उपत्यका में भेंट की।

मैंने जब स्वामीजी को अपने आने का उद्देश्य बतलाया, तो वे बोले, "चलो, थोड़ा टहल आयें।" हम लोग उसी समय बाहर निकल पड़े। अहा! कैसा मनोहर दृश्य था! ऐसा दृश्य संसार में शायद ही हो! कहीं धूप और कहीं छाया से ढके मार्गों को काटते हुए हम शान्तिपूर्ण ग्रामों में से चले जा रहे थे। कहीं ग्रामीण बच्चे आनन्द से खेल-कूद कर रहे थे, और कहीं चारों ओर सुनहले खेत लहलहा रहे थे। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष ऐसे दीखते थे, मानो वे नील गगन को पार कर उसके परे चले जाना चाहते हों। खेतों में कहीं पर कुछ कृषक बालाएँ हाथों में हँसिया लिये शीतऋतु के लिए बाजरी के भुट्टे काटकर इकट्ठा कर रही थीं, तो अन्य कहीं सेवों की एक सुन्दर वाटिका दिखायी देती थी, जिसमें वृक्षों के नीचे आरक्त फलों के ढेर बड़े ही सुहावने लगते थे। फिर कुछ क्षण बाद ही हम खुले मैदान में आ पड़े और देखा—सामने हिमाच्छादित शुभ्र शिखर अभ्रमाला को चीरकर अद्भुत सौन्दर्य बिखेर रहे हैं।

अन्त में स्वामीजी ने मौन भंग करते हुए कहा, "आर्यों और सेमिटिक लोगों के नारी सम्बन्धी आदर्श सदैव से एक दूसरे के बिलकुल विपरीत रहे हैं। सेमिटिक लोग स्त्रियों की उपस्थिति को उपासना में घोर विघ्नस्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार स्त्रियों को किसी प्रकार के धर्म-कर्म का अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि आहार के लिए पक्षी मारना भी उनके लिए निषिद्ध है। आर्यों के अनुसार तो सहधर्मिणी बिना पुरुष कोई धार्मिक कार्य नहीं कर सकता।"

ऐसी अप्रत्याशित और स्पष्ट बात से मैं तो आश्चर्यचकित हो गया, पूछा, "किन्तु स्वामीजी, क्या हिन्दू-धर्म आर्य-धर्म का अंगविशेष नहीं है?"

स्वामीजी ने शान्त-स्वर में कहा, "आधुनिक हिन्दू-धर्म अधिकांशतः एक पौराणिक धर्म है, जिसका उद्गम बौद्ध-काल के पश्चात् हुआ है। दयानन्द सरस्वती ने यह दर्शाया कि यद्यपि गार्हपत्य अग्नि में आहुति प्रदान करने की जो वैदिक क्रिया है, उसके अनुष्ठान में सहधर्मिणी की उपस्थिति नितान्त अनिवार्य है, पर तो भी वह शालग्राम-शिला अथवा गृहदेवता को स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि इस प्रकार की पूजा का प्रचलन पौराणिक काल के उत्तरार्ध से हुआ है।"

"अतः आपके अनुसार हमारे देश में पाया जानेवाला स्त्री-पुरुष के अधिकारों का भेद पूर्णतः बौद्ध-धर्म के प्रभाव के कारण है?"

"हाँ, जहाँ कहीं भी यह भेद पाया जाता है, वहाँ तो मैं ोचता हूँ। पाश्चात्य समालोचना के आकस्मिक बहाव होकर और पाश्चात्य नारियों की तुलना में अपन

देश की नारियों की अवस्था भिन्न देखकर हम एकदम यह न मान बैठें कि हमारे यहाँ की स्त्रियों की दशा हीन है। विगत कई सदियों से भारत में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता रहा है, जिससे हम स्त्रियों का विशेष संरक्षण करने को बाध्य हुए हैं। बस इसी सत्य की ओर दृष्टि रखकर ही हमें अपनी सामाजिक रीति-नीति का विचार करना होगा—न कि स्त्री-जाति की हीनता के सिद्धान्त की ओर लक्ष्य करते हुए।"

"स्वामीजी, तो क्या आप भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा से पूर्णतः सन्तुष्ट हैं?"

"कदापि नहीं। पर स्त्रियों के सम्बन्ध में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार बस उनको शिक्षा देने तक ही सीमित है। उनमें ऐसी योग्यता ला देनी होगी, जिससे वे अपनी समस्याओं को स्वयं ही अपने ढंग से सुलझा सकें। अन्य कोई उनके लिए यह कार्य नहीं कर सकता, और करने का प्रयत्न भी उचित नहीं है। हमारी भारतीय स्त्रियाँ अपनी समस्याओं को हल करने में संसार के किसी भी भाग की स्त्रियों से पीछे नहीं हैं।"

"स्वामीजी, क्या आप बतला सकते हैं कि हमारे देश में किस प्रकार बौद्ध-धर्म से स्त्रियों की हीनता का प्रादुर्भाव हुआ?"

स्वामीजी—इस हीनता का प्रादुर्भाव बौद्ध-धर्म के पतन-काल में हुआ। प्रत्येक आन्दोलन किसी असाधारण विशेषता के कारण ही संसार में सफलता प्राप्त करता है, पर जब उसका पतन होता है, तब उसकी यह अभिमानास्पद विशेषता ही उसकी दुर्बलता का एक मुख्य उपादान बन जाती है। नरोत्तम भगवान बुद्ध में संगठन करने की अद्भुत शक्ति थी, और इसी शक्ति के बल पर उन्होंने संसार को अपना अनुगामी बनाया था। पर

उनका धर्म केवल संन्यासियों के लिए ही उपयोगी था। अतः उसका एक कुफल यह हुआ कि संन्यासी की भूषा तक सम्मानित होने लगी। फिर, उन्हीं ने सर्वप्रथम मठ-प्रथा अर्थात् धर्म-संघ में रहने की प्रथा का प्रवर्तन किया। इसके लिए उन्हें बाध्य होकर स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न अधिकार देना पड़ा, क्योंकि मठ-स्वामिनियाँ कुछ निर्दिष्ट मठ-अध्यक्षों की अनुमति बिना किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में हाथ नहीं डाल सकती थीं। इससे उनके तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति तो अवश्य हुई, अर्थात् उनका धर्म-संघ सुव्यवस्थित हो गया, किन्तु अन्ततोगत्वा इसके परिणाम खेदजनक भी हुए।

"परन्तु स्वामीजी, संन्यास-धर्म तो वेदविहित है।"

"अवश्य संन्यास वेद-प्रतिपादित है, पर वहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं किया गया है। क्या तुम्हें स्मरण है कि विदेहराज जनक की राजसभा में किस प्रकार धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर महर्षि याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद हुआ था? इस वाद-विवाद में ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी (गार्गी) ने प्रधान भाग लिया था। उसने कहा था, 'मेरे दो प्रश्न मानो कुशल धनुर्धारी के हाथ में के दो तीक्ष्ण बाण हैं'। वहाँ पर उसके स्त्री होने के सम्बन्ध में कोई प्रसंग तक नहीं उठाया गया है। तुम्हें विदित ही होगा कि प्राचीन गुरुकुलों में बालक और बालिकाएँ समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। इससे अधिक साम्यभाव और क्या हो सकता है? हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़ देखो—शकुन्तला का उपाख्यान पढ़ो, और फिर देखो, टेनिसन की 'राजकुमारी' में हमारे लिए क्या कोई नयी शिक्षाप्रद बात प्राप्त हो सकती है?"

"स्वामीजी, आपमें हमारी प्राचीन गौरव-गरिमा को इतने सुन्दर ढंग से प्रकट करने की बड़ी अद्भुत क्षमता है!"

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, "सम्भव है, इसका कारण यह हो कि मैंने पृथ्वी के दोनों गोलार्धों का पर्यटन किया है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया—चाहे वह उसकी कल्पना ही क्यों न हो—उस जाति में स्त्री-जाति के लिए इतना अधिक सम्मान और श्रद्धा है, जिसकी तुलना संसार में हो ही नहीं सकती। पाश्चात्य स्त्रियाँ ऐसे कई कानूनी बन्धनों से जकड़ी हुई हैं, जिनसे भारतीय स्त्रियाँ सर्वथा मुक्त एवं अपरिचित हैं। भारतीय समाज में निश्चय ही दोष और अपवाद दोनों हैं, पर यही स्थिति पाश्चात्य समाज की भी है। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि संसार के सभी भागों में प्रीति, कोमलता और साधुता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न चल रहे हैं, और विभिन्न जातीय प्रथाएँ इन्हीं को यथासम्भव प्रकट करने की प्रणाली मात्र हैं। जहाँ तक गार्हस्थ्य-धर्म का सम्बन्ध है, मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि भारतीय प्रणाली में अन्य देशों की अपेक्षा अनेक सद्गुण विद्यमान हैं।"

"स्वामीजी, तो क्या भारतीय स्त्री-जीवन के सम्बन्ध में हम इतने सन्तुष्ट हैं कि हमारे समक्ष उसकी कोई भी समस्याएँ नहीं हैं?"

"क्यों नहीं, बहुतसी समस्याएँ हैं—और ये समस्याएँ बड़ी गम्भीर हैं; परन्तु इनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जो 'शिक्षा'-रूपी मन्त्र-बल से हल न हो सके। पर हाँ, शिक्षा की सच्ची कल्पना हममें से कदाचित् ही किसी को हो।"

"स्वामीजी, शिक्षा की आप क्या परिभाषा देते हैं?"

उनका धर्म केवल संन्यासियों के लिए ही उपयोगी था। अतः उसका एक कुफल यह हुआ कि संन्यासी की भूषा तक सम्मानित होने लगी। फिर, उन्हीं ने सर्वप्रथम मठ-प्रथा अर्थात् धर्म-संघ में रहने की प्रथा का प्रवर्तन किया। इसके लिए उन्हें बाध्य होकर स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न अधिकार देना पड़ा, क्योंकि मठ-स्वामिनियाँ कुछ निर्दिष्ट मठ-अध्यक्षों की अनुमति बिना किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में हाथ नहीं डाल सकती थीं। इससे उनके तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति तो अवश्य हुई, अर्थात् उनका धर्म-संघ सुव्यवस्थित हो गया, किन्तु अन्ततोगत्वा इसके परिणाम खेदजनक भी हुए।

"परन्तु स्वामीजी, संन्यास-धर्म तो वेदविहित है।"

"अवश्य संन्यास वेद-प्रतिपादित है, पर वहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं किया गया है। क्या तुम्हें स्मरण है कि विदेहराज जनक की राजसभा में किस प्रकार धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर महर्षि याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद हुआ था? इस वाद-विवाद में ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी (गार्गी) ने प्रधान भाग लिया था। उसने कहा था, 'मेरे दो प्रश्न मानो कुशल धनुर्धारी के हाथ में के दो तीक्ष्ण बाण हैं'। वहाँ पर उसके स्त्री होने के सम्बन्ध में कोई प्रसंग तक नहीं उठाया गया है। तुम्हें विदित ही होगा कि प्राचीन गुरुकुलों में बालक और बालिकाएँ समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। इससे अधिक साम्यभाव और क्या हो सकता है? हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़ देखो——शकुन्तला का उपाख्यान पढ़ो, और फिर देखो, टेनिसन की 'राजकुमारी' में हमारे लिए क्या कोई नयी शिक्षाप्रद बात प्राप्त हो सकती है?"

"स्वामीजी, आपमें हमारी अतीत गौरव-गरिमा को इतने सुन्दर ढंग से प्रकट करने की बड़ी अद्‌भुत क्षमता है!"

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, "सम्भव है, इसका कारण यह हो कि मैंने पृथ्वी के दोनों गोलार्धों का पर्यटन किया है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया—चाहे वह उसकी कल्पना ही क्यों न हो—उस जाति में स्त्री-जाति के लिए इतना अधिक सम्मान और श्रद्धा है, जिसकी तुलना संसार में हो ही नही सकती। पाश्चात्य स्त्रियाँ ऐसे कई कानूनी बन्धनों से जकड़ी हुई हैं, जिनसे भारतीय स्त्रियाँ सर्वथा मुक्त एवं अपरिचित हैं। भारतीय समाज में निश्चय ही दोष और अपवाद दोनो है, पर यही स्थिति पाश्चात्य समाज की भी है। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि ससार के सभी भागों में प्रीति, कोमलता और साधुता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न चल रहे हैं, और विभिन्न जातीय प्रथाएँ इन्हीं को यथासम्भव प्रकट करने की प्रणाली मात्र है। जहाँ तक गार्हस्थ्य-धर्म का सम्बन्ध है, मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि भारतीय प्रणाली में अन्य देशों की अपेक्षा अनेक सद्‌गुण विद्यमान है।"

"स्वामीजी, तो क्या भारतीय स्त्री-जीवन के सम्बन्ध में हम इतने सन्तुष्ट हैं कि हमारे समक्ष उसकी कोई भी समस्याएँ नहीं है?"

"क्यों नही, बहुतसी समस्याएँ हैं—और ये समस्याएँ बड़ी गम्भीर हैं; परन्तु इनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जो 'शिक्षा'-रूपी मन्त्र-बल से हल न हो सके। पर हाँ, शिक्षा की सच्ची कल्पना हममें से कदाचित् ही किसी को हो।"

"स्वामीजी, शिक्षा की आप क्या परिभाषा देते हैं?"

है। इस व्रत का अवलम्बन करनेवाली स्त्रियाँ स्वभावतः ही माता और पत्नी का सम्बन्ध त्याग देती हैं। इससे तो माता और पत्नी का समाज में जो सर्वोच्च स्थान है, वह छिन जायगा और ब्रह्मचारिणियों को प्राप्त हो जायगा। यह क्या स्त्री-जाति की उन्नति पर सीधा आघात नहीं है?"

"तुम्हें स्मरण रहना चाहिए कि यदि धर्म स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य की उच्चता एवं महानता दिखाता है, तो वह पुरुषों के लिए भी ब्रह्मचर्य की उतनी ही उच्चता और महानता प्रदर्शित करता है। तुम्हारे प्रश्न से यह भी ज्ञात होता है कि तुम्हारे मन में बड़ी गड़बड़ी मची हुई है। हिन्दू-धर्म में मानवात्मा का केवल एकमेव कर्तव्य बतलाया गया है और वह है—इस अनित्य और नश्वर जगत् में नित्य एवं शाश्वत पद की प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए कोई एक ही बँधा हुआ मार्ग नहीं है। विवाह हो या ब्रह्मचर्य, पाप हो या पुण्य, ज्ञान हो या अज्ञान—इनमें से प्रत्येक की सार्थकता हो सकती है, यदि वह इस चरम लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायता करे। बस यहीं पर हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म में महान् अन्तर है। हिन्दू-धर्म में एक उद्देश्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग एवं साधन बतलाये गये हैं, एक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्गों का विधान है, परन्तु बौद्ध-धर्म में जीवन का प्रधान आदेश बाह्य जगत् की क्षणिकता का अनुभव कर लेना ही है, और मोटे तौर पर वह बस एक ही मार्ग द्वारा हो सकता है। क्या तुम्हें महाभारत में वर्णित उस युवक योगी का वृत्तान्त विदित है, जिसने क्रोध में आकर अपनी प्रबल मानसिक शक्ति के प्रभाव से एक कौए और बगुले को भस्म कर दिया था और जिसका उसे बड़ा घमण्ड हो गया था? एक

दिन यही योगी किसी नगर में पहुँचकर क्या देखता है कि एक स्त्री अपने रोगी पति की सेवा-शुश्रूषा में निरत है, एक अन्य स्थान पर एक धर्मव्याध नामक कसाई मांस-विक्रय कर रहा है, परन्तु इन दोनों को अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करने से ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है——यह सब क्या तुम्हें स्मरण है?"

"तो स्वामीजी, आपका इस देश की स्त्रियों के लिए क्या सन्देश है?"

"वही, जो पुरुषों के लिए है। भारत और भारतीय धर्म के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखो। तेजस्विनी होओ, हृदय में उत्साह भरो, भारत में जन्म लेने के कारण लज्जित न होओ, वरन् उसमें गौरव अनुभव करो और स्मरण रखो कि यद्यपि हमें दूसरे देशों से कुछ लेना अवश्य है, पर हमारे पास दुनिया को देने के लिए दूसरों की अपेक्षा सहस्रगुना अधिक है।"

हिन्दू-धर्म की मर्यादा

(प्रबुद्ध भारत, अप्रैल १८९९)

हमारे प्रतिनिधि लिखते हैं:—

अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू-धर्म में लाने के विषय में स्वामी विवेकानन्दजी का मतामत जानने के लिए सम्पादक महोदय ने मुझे आदेश दिया था कि मैं उनसे जाकर मिलूँ। एक दिन सायंकाल गंगाजी में नौका पर बैठकर उनके साथ इस विषय पर वार्तालाप का सुयोग मुझे मिला। उस समय सन्ध्या हो गयी थी। बेलुड़-स्थित श्रीरामकृष्ण-मठ के घाट के पास ही हमने नौका खड़ी की थी। स्वामीजी मठ से आये और नौका में बैठकर मेरे साथ वार्तालाप करने लगे।

स्थान और काल दोनों ही परम रमणीय थे। ऊपर आकाश में तारे चमक रहे थे, चारों ओर कलकलनादिनी जाह्नवी बह रही थीं; और एक ओर अस्पष्ट रूप से आलोकित मठ-भवन दीख रहा था, जिसके पीछे ताल और बड़े-बड़े सायेदार वृक्ष शान्त और मौन खड़े थे। मैंने पहले वार्तालाप शुरू किया। मैंने कहा, "स्वामीजी, जिन लोगों ने हिन्दू-धर्म छोड़कर अन्य धर्मों को अपना लिया है, उन्हें फिर से हिन्दू-धर्म में लाने के विषय में आपका क्या मत है, यही जानने के लिए मैं आपसे मिलने आया हूँ। आपके मत में क्या उनको फिर से हिन्दू-धर्म में लाया जा सकता है?"

स्वामीजी बोले, "अवश्य। उनको अवश्य लाया जा सकता है, और ऐसा करना भी चाहिए।"

एक मुहूर्त के लिए स्तब्ध रहकर, गम्भीर विचार के बाद

"जो लोग स्वेच्छा से दूसरे धर्म में चले गये थे, पर अब फिर से हिन्दू-धर्म में आना चाहते हैं, उनके लिए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान निस्सन्देह उचित है; पर जिनका परधर्म-ग्रहण जोर-जबरदस्ती के कारण हुआ था—जैसे कि काश्मीर और नेपाल में—अथवा जो लोग कभी हिन्दू नहीं थे, ऐसे लोग यदि हिन्दू-समाज में आना चाहते हैं, तो उन सबके लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं होना चाहिए।"

मैंने कुछ साहस करके पूछा, "स्वामीजी, पर इन लोगों की जाति कौनसी होगी? उनका किसी-न-किसी जाति के अन्तर्गत रहना नितान्त आवश्यक है; अन्यथा वे कभी भी इस विशाल हिन्दू-समाज के अन्तर्भुक्त हो उससे एक न हो सकेंगे। हिन्दू-समाज में उनका यथार्थ स्थान कहाँ पर है?"

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, "जो लोग पहले हिन्दू थे, वे अवश्य ही अपनी पहली जाति में लौट जायँगे; और जो नये आयेंगे, वे अपनी जाति आप ही बना लेंगे।"

वे कहते चले, "तुम्हें स्मरण होगा कि वैष्णव-समाज में यह बात पहले से ही पायी जाती है। हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में से जिन्होंने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्होंने तथा अहिन्दुओं ने वैष्णव-समाज के आश्रय में आकर अपनी एक स्वतन्त्र हिन्दू-जाति बना ली; और यह जाति भी कोई तुच्छ या हीन न थी—वह तो अच्छी शिष्ट जाति ही बनी। आचार्य रामानुज से लेकर बंगाल के श्रीचैतन्य महाप्रभु तक समस्त वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।"

मैंने पूछा, "इस नवीन जाति का विवाह-संस्कार आदि कहाँ होगा?"

स्वामीजी ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "क्यों, आजकल जैसा चल रहा है, वैसा ही;——वे आपस में विवाह करेंगे।"

मैंने पूछा, "फिर नामकरण की भी बात है। मेरी राय में अहिन्दू तथा जिन्होंने स्वधर्म का त्याग कर अहिन्दू नाम रख लिया था, उन दोनों का नया नामकरण होना उचित है। उनको आप जातिसूचक नाम देंगे या अन्य कोई?"

स्वामीजी सोचते हुए कहने लगे, "हाँ, नाम का भी काफी महत्त्व है!"

वे इस विषय में और अधिक कुछ नहीं बोले। परन्तु उसके बाद मैंने जो प्रश्न किया, उससे वे मानो उद्दीप्त-से हो उठे। मैंने पूछा, "स्वामीजी, ये नवागत लोग हिन्दू-धर्म की विभिन्न शाखाओं में से अपने लिए किसी धर्मप्रणाली का निर्वाचन स्वयं ही कर लेंगे, या आप उनके लिए किसी योग्य धर्मप्रणाली का निर्देश करेंगे?"

स्वामीजी बोले, "यह भी कोई पूछने की बात है? वे अपने पथ का निर्वाचन आप ही कर लेंगे; क्योंकि स्वयं निर्वाचन न करना हिन्दू-धर्म के मूल-तत्त्व के विरुद्ध है। हमारे धर्म का सार तो यही है कि प्रत्येक को अपने इष्ट-निर्वाचन का अधिकार है।"

स्वामीजी की इस बात को मैंने विशेष मूल्यवान समझा। कारण, मेरी समझ में, मेरे सम्मुखस्थ इन महानुभाव ने वैज्ञानिक बुद्धि और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से हिन्दू-धर्म के साधारण आधारों की आलोचना और अध्ययन में संसार के अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक समय बिताया है——और यह इष्ट-निर्वाचन की स्वाधीनता का तत्त्व इतना उदार है कि सारा संसार इसमें स्थान पा सकता है।

इसके बाद दूसरे विषयों पर वार्तालाप हुआ। अन्त में प्रेमपूर्वक मुझसे विदा लेकर ये महान् धर्माचार्य अपनी लालटेन उठाकर मठ लौट गये और मैं भी गंगा के पथहीन पथ से, उसकी तरंगों पर हिलती-डुलती विभिन्न आकारों की नौकाओं के बीच में से होते हुए अपने कलकत्ता-स्थित निवास-स्थान पर लौट आया।

प्रश्नोत्तर

(१)

(मठ की डायरी से)

प्रश्न--गुरु किसे कह सकते हैं ?

उत्तर--जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं। देखो न, मेरे गुरुदेव ने मेरा भूत-भविष्य बता दिया था।

प्रश्न---भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है ?

उत्तर---भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है---केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण-सा पड़ा हुआ है। उस आवरण को हटाने से ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी।

प्रश्न---आप कहा करते हैं, 'अपने पैरों पर खड़े हो जाओ'। तो इस वाक्य में 'अपने' शब्द से आपका लक्ष्य किससे है ?

उत्तर---अवश्य परमात्मा पर निर्भर रहने के लिए कहना ही मेरा उद्देश्य है। फिर भी, इस 'कच्चे अहं' पर निर्भरता का अभ्यास भी हमें धीरे-धीरे सच्चे लक्ष्य पर पहुँचा देगा; क्योंकि जीवात्मा भी तो आखिर परमात्मा की मायिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रश्न---यदि सचमुच एक ही वस्तु सत्य हो, तो फिर यह द्वैत-बोध, जो सदा-सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया ?

उत्तर---जब किसी विषय का प्रथम अनुभव होता है, तो ठीक उसी समय कभी द्वैत-बोध नहीं होता। इन्द्रियों के

साथ विषयों का संयोग होने के पश्चात् जब हम उस ज्ञान को बुद्धि में ले जाते हैं, तभी द्वैत का बोध होता है। यदि विषयानुभूति के समय द्वैत-बोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप में तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप मे अवस्थान कर सकता।

प्रश्न—सामंजस्य पूर्वक चरित्र-गठन करने का सर्वोत्तम उपाय कौनसा है?

उत्तर—*जिनका चरित्र उस रूप से गठित हुआ हो, उनका संग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।*

प्रश्न—वेद के विषय में हमारी धारणा किस प्रकार की होनी चाहिए?

उत्तर—वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं—पर हाँ, वेद के जो अंश युक्ति-विरोधी हैं, वे वेद कहलाने लायक नहीं हैं। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं। वेद के पश्चात् इस संसार में जहाँ कहीं जो भी धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, उसे वेद से ही गृहीत समझना चाहिए।

प्रश्न—यह जो सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युगों का वर्णन शास्त्र में पाया जाता है, वह क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल काल्पनिक ही है?

उत्तर—वेदों में तो कहीं ऐसे चतुर्युग का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की कल्पना मात्र है।

प्रश्न—शब्द और भाव के बीच क्या सचमुच कोई नित्य सम्बन्ध है? अथवा किसी भी शब्द द्वारा कोई भी भाव समझाया जा सकता है? क्या लोगों ने अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी शब्द के साथ किसी भी भाव का सम्बन्ध जोड़ दिया है?

उत्तर—इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं, किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच कुछ सम्बन्ध अवश्य है, पर वह सम्बन्ध नित्य है इसका क्या प्रमाण? देखो न, एक ही भाव को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में कितने ही भिन्न-भिन्न शब्द विद्यमान हैं। हां, कोई सूक्ष्म सम्बन्ध हो सकता है जिसे हम अब भी नहीं पकड़ पा रहे हैं।

प्रश्न—भारत में कार्यप्रणाली कैसी होनी चाहिए?

उत्तर—पहले तो, ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे सब लोग काम करना सीखें और उनका शरीर सबल हो। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु लाख-लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने कुछ हिन्दू-प्रतीकों की अवनति का वर्णन किया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का भेद समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग आर्यों का था, और इसलिए उसमें अधिकारी-विचार के इतने कड़े नियम थे। भक्ति-मार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—अनार्य-जाति से हुई है, इसलिए उसमें अधिकारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—भारत के इस पुनरुत्थान के कार्य में रामकृष्ण मिशन का कौनसा स्थान है?

उत्तर—इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर देंगे। इसके साथ-साथ दूसरे विषयों में भी उन्नति होती रहेगी। इस तरह

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-जाति का अभ्युदय होगा। शूद्र-जाति और अधिक नहीं रहेगी—वे लोग आज जो काम कर रहे हैं, वे सब यंत्रों की सहायता से किये जायेंगे। भारत का वर्तमान अभाव है—क्षत्रिय-शक्ति।

प्रश्न—क्या मनुष्य को दूसरे जन्म मे पशु आदि हीन योनि की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—हाँ। पुनर्जन्म कर्म पर निर्भर रहता है। यदि मनुष्य पशु के समान आचरण करे, तो वह पशु-योनि में खिंच जाता है।

प्रश्न—मनुष्य फिर पशु-योनि को कैसे प्राप्त हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आती। क्रमविकास के नियमानुसार जब उसने एक बार मानव-देह प्राप्त कर ली है, तो फिर से वह पशु-योनि को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—क्यों, पशु-योनि से जब मनुष्य हो सकता है, तो मनुष्य-योनि से पशु क्यों न होगा? सत्ता तो वास्तव में एक ही है—मूल में तो सब एक ही है।

एक समय (सन् १८९८ ई. में) इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल में स्वामीजी ने मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति बौद्ध-युग में मानी थी। उन्होंने कहा था:—पहले बौद्ध चैत्य, फिर स्तूप, और तत्पश्चात् बुद्ध का मन्दिर निर्मित हुआ। उसके साथ ही हिन्दू-देवताओं के मन्दिर खड़े हुए।

प्रश्न—क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है?

उत्तर—श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'योगी जिन्हें पद्म कहते हैं, वास्तव में वे मनुष्य के शरीर में नहीं हैं। योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है।'

प्रश्न—क्या मूर्ति-पूजा के द्वारा मुक्तिलाभ हो सकता है?

उत्तर—मूर्ति-पूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर भी यह मुक्ति-प्राप्ति में गौण कारणस्वरूप है—सहायक है। मूर्ति-पूजा की निन्दा करना उचित नहीं, क्योंकि बहुतों के लिए मूर्ति-पूजा ही अद्वैत-ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार कर देती है—और केवल इस अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

प्रश्न—हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए?

उत्तर—त्याग।

प्रश्न—आप कहते हैं कि बौद्ध-धर्म ने अपनी वसीयत के रूप में भारत में घोर अवनति छोड़ी—तो यह कैसे हुआ?

उत्तर—बौद्धों ने प्रत्येक भारतवासी को संन्यासी या संन्यासिनी बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सब लोग तो वैसा नहीं हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से संन्यासी-संन्यासिनियों में क्रमशः त्याग का भाव घटता गया। और भी एक कारण था—धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारों का अनुकरण करना। वे इन सब स्थानों में धर्म-प्रचार के हेतु गये और इस प्रकार उनके भीतर उन लोगों के दूषित आचार प्रवेश कर गये। अन्त में उन्होंने भारत में इन सब आचारों को प्रचलित कर दिया।

प्रश्न—माया क्या अनादि और अनन्त है?

उत्तर—समष्टि-रूप से अनादि-अनन्त अवश्य है, पर व्यष्टि-रूप से सान्त है।

प्रश्न—माया क्या है?

उत्तर—वास्तव में वस्तु केवल एक ही है—चाहे उसको चैतन्य कहो या जड़। पर उनमें से एक को छोड़ दूसरे का विचार करना केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसी को माया या अज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति क्या है?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—भले और बुरे दोनों बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की शृखला भी शृंखला ही है, और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। इसी तरह सत्-प्रवृत्ति के द्वारा असत्-प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है।'

प्रश्न—भगवत्कृपा बिना क्या मुक्तिलाभ हो सकता है?

उत्तर—मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति तो पहले से ही हमारे भीतर वर्तमान है।

प्रश्न—हमारे भीतर जिसे 'मैं' या 'अहं' कहा जाता है, वह देह आदि से उत्पन्न नहीं है इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अनात्मा की भाँति 'मैं' या 'अहं' भी देह-मन आदि से ही उत्पन्न होता है। प्रकृत 'मैं' के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है प्रत्यक्ष उपलब्धि।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जिसके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सभी अवस्थाओं में अद्वैत-तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वही सच्चा

ज्ञानी है। और सच्चा भक्त वह है, जो परमात्मा के स
जीवात्मा की अभिन्नता में अन्तर्दृष्टि कर यथार्थ ज्ञानसम्पन्न
गया है, जो सबसे प्रेम करता है और जिसका हृदय सबके लि
क्रन्दन करता है। ज्ञान और भक्ति में से किसी एक का प
लेकर जो दूसरे की निन्दा करता है, वह न तो ज्ञानी है,
भक्त—वह तो ढोंगी और धूर्त है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यदि तुम एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मा
लेते हो, तो उनकी सेवा करने के यथेष्ट कारण पाओगे। स
शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है 'स्मरण'। य
तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो, तो तुम्हारे जीव
में पग-पग पर उनको स्मरण करने का हेतु सामने आयगा।

प्रश्न—क्या मायावाद अद्वैतवाद से कुछ पृथक् है?

उत्तर—नहीं, दोनों एक ही हैं। मायावाद को छो
अद्वैतवाद की और कोई भी व्याख्या सम्भव नहीं है।

प्रश्न—ईश्वर तो अनन्त हैं, वे फिर मनुष्य-रूप धार
कर इतने छोटे किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त हैं। परन्तु तु
लोग अनन्त का जो अर्थ सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नहीं है
अनन्त कहने से तुम एक बड़ी प्रकाण्ड जड़-सत्ता समझ बैठते हो
इसी समझ के कारण तुम भ्रम में पड़ गये हो। जब तुम यह
कहते हो कि भगवान मनुष्य-रूप धारण नहीं कर सकते, तो
इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक प्रकाण्ड जड़पदार्थ को
इतना छोटा नहीं किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ में
अनन्त नहीं हैं। उनका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए

मानव के आकार में अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचती।

प्रश्न—कोई-कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध बन जाओ, फिर तुम्हें कर्म करने का ठीक-ठीक अधिकार होगा; परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना उचित है। इन दो विभिन्न मतों का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—तुम तो दो अलग-अलग बातों को एक में मिला दे रहे हो, इसलिए भ्रम में पड़ गये हो। कर्म का अर्थ है मानव-जाति की सेवा अथवा धर्मप्रचार-कार्य। यथार्थ प्रचार-कार्य में अवश्य ही सिद्ध-पुरुष के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं है, परन्तु सेवा में तो सभी का अधिकार है, इतना ही नहीं, जब तक हम दूसरों से सेवा ले रहे हैं, तब तक हम दूसरों की सेवा करने को बाध्य भी हैं।

(२)

(ब्रुकलिन नैतिक सभा, ब्रुकलिन, अमेरिका)

प्रश्न—आप कहते हैं कि सब कुछ मंगल के लिए ही है; परन्तु देखने में आता है कि संसार सब ओर अमंगल और दुःख-कष्ट से घिरा है। तो फिर आपके मत के साथ इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले व्यापार का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—आप यदि पहले अमंगल के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकें, तभी मैं इस प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा। परन्तु वेदान्तिक धर्म तो अमंगल का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। सुख से रहित अनन्त-दुःख कहीं हो, तो उसे अवश्य प्रकृत अमंगल कहा जा सकता है। पर यदि सामयिक दुःख-कष्ट हृदय की कोमलता और महत्ता की वृद्धि कर मनुष्य को

अनन्त-सुख की ओर अग्रसर कर दे, तो फिर उसे अमंगल नहीं कहा जा सकता, बल्कि उसे तो परम मंगल कहा जा सकता है। जब तक हम यह अनुसन्धान नहीं कर लेते कि किसी वस्तु का अनन्त के राज्य में क्या परिणाम होता है, तब तक हम उसे बुरा नहीं कह सकते।

भूतों अथवा पिशाचों की उपासना हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। मानव-जाति क्रमोन्नति के मार्ग पर चल रही है, परन्तु सब लोग एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं पहुँच सके हैं। इसी लिए पार्थिव जीवन में कोई-कोई लोग अन्यान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महान् और पवित्र देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत बनाने के लिए अवसर विद्यमान है। हम अपना नाश नहीं कर सकते, हम अपने भीतर की जीवनी-शक्ति को नष्ट या दुर्बल नहीं कर सकते, परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न—पार्थिव जड़वस्तु की सत्यता क्या हमारे मन की केवल कल्पना नहीं है?

उत्तर—मेरे मत में बाह्य जगत् की अवश्य एक सत्ता है—हमारे मन के विचार के बाहर भी उसका एक अस्तित्व है। चैतन्य के क्रमविकास-रूप महान् विधान का अनुवर्ती होकर यह समग्र विश्व-प्रपंच उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। चैतन्य का यह क्रमविकास जड़ के क्रमविकास से पृथक् है। जड़ का क्रमविकास चैतन्य की विकास-प्रणाली का सूचक या प्रतीकस्वरूप है, किन्तु उसके द्वारा इस प्रणाली की व्याख्या नहीं हो सकती। वर्तमान पार्थिव परिस्थिति में बद्ध रहने के कारण

हम अभी तक अखण्ड व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं कर सके हैं। जब तक हम उस उच्चतर भूमि में नहीं पहुँच जाते, जहाँ हम अपनी अन्तरात्मा के परम लक्षणों को प्रकट करने के उपयुक्त यन्त्र बन जाते हैं, तब तक हम प्रकृत व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं कर सकते।

प्रश्न—ईसा मसीह के पास एक जन्मान्ध शिशु को ले जाकर उनसे पूछा गया था कि शिशु अपने किये हुए पाप के फल से अन्धा हुआ है अथवा अपने माता-पिता के पाप के फल से—इस समस्या की मीमांसा आप किस प्रकार करेंगे?

उत्तर—इस समस्या में पाप की बात को ले आने का कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। तो भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि शिशु की यह अन्धता उसके पूर्वजन्म-कृत किसी कर्म का ही फल होगी। मेरे मत में, पूर्वजन्म को स्वीकार करने पर ही ऐसी समस्याओं की मीमांसा हो सकती है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा क्या आनन्द की अवस्था को प्राप्त करती है?

उत्तर—मृत्यु तो केवल अवस्था का परिवर्तन मात्र है। देश-काल आपके ही भीतर वर्तमान हैं, आप देश-काल के अन्तर्गत नहीं हैं। बस इतना जानने से ही यथेष्ट होगा कि हम, इहलोक में या परलोक में, अपने जीवन को जितना पवित्र और महान् बनायेंगे, उतना ही हम उन भगवान के निकट होते जायेंगे, जो सारे आध्यात्मिक सौन्दर्य और अनन्त आनन्द के केन्द्रस्वरूप हैं।

(३)

(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब, बोस्टन, अमेरिका)

प्रश्न—क्या वेदान्त का प्रभाव इस्लाम-धर्म पर भी कुछ पड़ा था?

उत्तर—वेदान्त-मत की आध्यात्मिक उदारता ने इस्लाम-धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इस्लाम-धर्म संसार के अन्यान्य देशों के इस्लाम-धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशों के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानों को फुसलाते हैं कि तुम विधर्मियों के साथ मिल-जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दंगा-फसाद मचाते हैं।

प्रश्न—क्या वेदान्त जाति-भेद मानता है?

उत्तर—जाति-भेद वेदान्त-धर्म का विरोधी है। जाति-भेद एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बड़े-बड़े आचार्यों ने उसे तोड़ने के प्रयत्न किये हैं। बौद्ध-धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायों ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढ़ता गया, जाति-भेद की शृंखला उतनी ही दृढ़ होती गयी। जाति-भेद की उत्पत्ति राजनीतिक व्यवस्था से हुई है। वह तो वंश-परम्परागत व्यवसायी सम्प्रदायों का समवाय (Trade guild) मात्र है। किसी प्रकार के उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-भेद को अधिक मात्रा में तोड़ा है।

प्रश्न—वेदों की विशेषता किस बात में है?

उत्तर—वेदों की एक विशेषता यह है कि सारे शास्त्र-ग्रन्थों में एकमात्र वेद ही बारम्बार कहते हैं कि वेदों के भी अतीत हो जाना चाहिए। वेद कहते हैं कि वे केवल असिद्ध व्यक्तियों के लिए लिखे गये हैं। इसलिए सिद्धावस्था में तो वेदों की सीमा के परे जाना पड़ेगा।

प्रश्न—आपके मत में प्रत्येक जीवात्मा क्या नित्य सत्य है?

उत्तर—जीव-सत्ता कुछ संस्कारों या बुद्धि-वृत्तियों की समष्टिस्वरूप है, और इन बुद्धि-वृत्तियों का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह जीवात्मा अनन्त-काल के लिए कभी सत्य नहीं हो सकता। इस मायिक जगत्-प्रपंच के भीतर ही उसकी सत्यता है। जीवात्मा तो विचार और स्मृति की समष्टि है—वह नित्य सत्य कैसे हो सकता है?

प्रश्न—भारत में बौद्ध-धर्म का लोप क्यों हुआ?

उत्तर—वास्तव में भारत में बौद्ध-धर्म का लोप नहीं हुआ। वह बस एक महान् सामाजिक आन्दोलन मात्र था। बुद्ध के पहले, यज्ञ के नाम से तथा अन्य विभिन्न कारणों से बहुत प्राणि-हिंसा होती थी और लोग बहुत मद्यपान एवं आमिष-आहार करते थे। बुद्ध के उपदेश के फल से मद्यपान और जीव-हत्या का भारत से प्रायः लोप-सा हो गया है।

(४)

(अमेरिका के हार्डफोर्ड में 'आत्मा, ईश्वर और धर्म' विषय पर स्वामीजी का एक भाषण समाप्त होने पर वहाँ के श्रोताओं ने कुछ प्रश्न पूछे थे। वे प्रश्न तथा उनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।)

श्रोताओं में से एक व्यक्ति ने कहा, "यदि ईसाई धर्म-प्रचारक लोगों को नरकाग्नि का डर न दिखायें, तो उनके उपदेशों को कोई नहीं मानेगा।"

उत्तर—यदि ऐसा ही हो, तो न मानना ही अच्छा है। भय दिखाकर जिससे धर्म-कर्म कराना होता है, उसके द्वारा असल में कोई धर्माचरण होता ही नहीं। लोगों को उनकी आसुरी प्रकृति के विषय में कुछ न सुनाकर उनमें जो देवभाव निहित है, उसी के बारे में उपदेश देना अच्छा है।

प्रश्न—प्रभु (ईसा मसीह) ने जो बताया कि 'स्वर्गराज्य इस संसार का नहीं है'—इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—उनके कहने का तात्पर्य यह था कि स्वर्गराज्य हमारे भीतर ही विद्यमान है। यहूदी लोगों की ऐसी धारणा थी कि इसी पृथ्वी में कहीं स्वर्गराज्य नामक कोई राज्य स्थापित होगा। पर ईसा मसीह की धारणा इस प्रकार की नहीं थी।

प्रश्न—क्या आप यह विश्वास करते हैं कि हम सब पहले पशु थे और अब मनुष्य बन गये हैं?

उत्तर—मेरा विश्वास है कि क्रमविकास के नियमानुसार उन्नततर प्राणी निम्नतर जीवों से ही आये हैं।

प्रश्न—आप ऐसे किसी व्यक्ति को जानते हैं, जिसे अपने पिछले जन्म का स्मरण है?

उत्तर—ऐसे कई व्यक्तियों के साथ मेरी भेंट हुई है, जिन्होंने मुझे बतलाया है कि उन्हें अपने पिछले जन्म का स्मरण है। वे ऐसी एक अवस्था में पहुँच गये हैं, जिसमें उनके पूर्व-जन्म की स्मृति का उदय हुआ है।

प्रश्न—ईसा के सूली पर विद्ध होने की बात पर क्या आप विश्वास करते हैं?

उत्तर—ईसा तो ईश्वरावतार थे—लोग उनकी हत्या नहीं कर सके। उन्होंने जिसे सूली पर चढ़ाया था, वह तो एक छाया मात्र थी, मृगतृष्णा-जैसी एक भ्रान्ति मात्र थी।

प्रश्न—यदि उनमें इस प्रकार के एक छाया-शरीर का निर्माण करने की शक्ति थी, तो क्या यही सबसे श्रेष्ठ अलौकिक व्यापार नहीं है?

उत्तर—अलौकिक चमत्कारों को तो मैं हमेशा ही सत्य

की प्राप्ति में सबसे बड़ा विघ्न मानता हूँ। बुद्ध के शिष्यों ने एक समय उनसे इस प्रकार के चमत्कार दिखानेवाले किसी व्यक्ति की बात कही थी। वह व्यक्ति स्पर्श किये बिना ही एक पात्र को बहुत ऊँचे स्थान से ले आया था। परन्तु वह पात्र जब बुद्धदेव को दिखाया गया, तो देखते ही उन्होंने उसे पदाघात से चूर-चूर कर दिया। और शिष्यों की इस प्रकार की अलौकिक क्रियाओं पर धर्म की नींव डालने का निषेध करते हुए कहा, 'सनातन तत्त्वों में सत्य की खोज करनी होगी।' उन्होंने अपने शिष्यों को आभ्यन्तरिक यथार्थ ज्ञानालोक की—आत्मतत्त्व, आत्मज्योति की शिक्षा दी थी। और इस आत्मज्योति के आलोक में अग्रसर होना ही एकमात्र निर्विघ्न मार्ग है। चमत्कार आदि तो धर्म-मार्ग में विघ्नस्वरूप हैं। उन्हें अपने सामने से दूर कर देना चाहिए।

प्रश्न—क्या आप विश्वास करते हैं कि ईसा ने शैलोपदेश (Sermon on the Mount) दिया था ?

उत्तर—हाँ, मैं विश्वास करता हूँ कि ईसा ने शैलोपदेश दिया था; परन्तु इस विषय में दूसरों के समान मैं भी ग्रन्थों के प्रामाण्य पर ही निर्भर हूँ। और मैं यह भी जानता हूँ कि केवल ग्रन्थों के प्रमाण में पूर्ण आस्था नहीं रखी जा सकती। तो भी यह सत्य है कि उस शैलोपदेश को अपने जीवन का मार्ग-प्रदर्शक बनाने में हमारे लिए किसी प्रकार की आपत्ति की सम्भावना नहीं है। जो कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे लिए कल्याणप्रद प्रतीत हो, उसको हमें ग्रहण करना होगा। बुद्धदेव ने ईसा से पाँच सौ वर्ष पहले उपदेश दिया था। उनके सारे वचन प्रेम और शुभकामना से भरे हुए हैं। उनके श्रीमुख से कभी भी

किसी के प्रति अभिशाप का उच्चारण नहीं हुआ। उनके जीवन-भर में कभी भी किसी के प्रति अशुभ विचार का प्रसंग नहीं सुना गया। जरतुष्ट्र या कन्फ्यूशस के मुख से भी कभी अभिशाप के शब्द नहीं निकले।

(५)

(निम्नलिखित प्रश्नोत्तर अमेरिका में दिये हुए विभिन्न भाषणों के अन्त में हुए थे। वहीं से इनका संग्रह किया गया है। इनमें से यह अमेरिका के एक संवाद-पत्र से संगृहीत है।)

प्रश्न—आत्मा के फिर से देह-धारण के विषय में हिन्दू-मत किस प्रकार का है?

उत्तर—वैज्ञानिकों का शक्ति या जड़-सातत्य अथवा नैरन्तर्य (Conservation of energy or matter) का मत-वाद जिस भित्ति पर प्रतिष्ठित है, पुनर्देहधारण का सिद्धान्त भी उसी भित्ति पर स्थापित है। इस मतवाद (Conservation of energy or matter) का प्रवर्तन सर्वप्रथम हमारे देश के एक दार्शनिक ने ही किया था। प्राचीन ऋषि 'सृष्टि' पर विश्वास नहीं करते थे। 'सृष्टि' कहने से तात्पर्य निकलता है—'कुछ नहीं' से 'कुछ' का होना, 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति। यह असम्भव है। जिस प्रकार काल का आदि नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि का भी आदि नहीं है। ईश्वर और सृष्टि मानो दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं—उनका न आदि है, न अन्त—वे नित्य पृथक् हैं। सृष्टि के बारे में हमारा मत यह है—'वह थी, है, और रहेगी'। पाश्चात्य देशवासियों को भारत से एक बात सीखनी है—वह है परधर्म-सहिष्णुता। कोई भी धर्म बुरा नहीं है; क्योंकि सब धर्मों का सार एक ही है।

प्रश्न—भारत की स्त्रियाँ उतनी उन्नत क्यों नहीं है ?

उत्तर—विभिन्न समयों में अनेक असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानतः उसी के कारण भारतीय महिलाएँ इतनी अनुन्नत हैं। फिर, इसमें कुछ दोष तो भारतवासियों के निजी भी है।

किसी समय अमेरिका में स्वामीजी से कहा गया था कि हिन्दू-धर्म ने कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी को अपने धर्म में नहीं मिलाया है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे प्राच्य-भूखण्ड में घोषणा करने के लिए बुद्धदेव के पास एक विशेष सन्देश था, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में घोषणा करने के लिए मेरे पास भी एक विशेष सन्देश है।"

प्रश्न—आप क्या यहाँ (अमेरिका में) हिन्दू-धर्म के क्रिया-कलाप, अनुष्ठान आदि को चलाना चाहते हैं ?

उत्तर—मैं तो केवल दार्शनिक तत्त्वों का ही प्रचार कर रहा हूँ।

प्रश्न—क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि यदि भावी नरक का डर मनुष्य के सामने से हटा दिया जाय, तो किसी भी रूप से उसे काबू में रखना असम्भव हो जायगा ?

उत्तर—नहीं; बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि भय की अपेक्षा हृदय में प्रेम और आशा का संचार होने से वह अधिक अच्छा हो सकेगा।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय में स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने २५ मार्च सन् १८९६ ई. को युक्तराष्ट्र अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'ग्रेजुएट दार्शनिक सभा' में वेदान्त-दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए।)

प्रश्न—मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में दार्शनिक चिन्तन की वर्तमान अवस्था कैसी है। इन सब बातों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है?,

उत्तर—मैंने पहले ही कहा है कि भारत में अधिकांश लोग द्वैतवादी हैं। अद्वैतवादियों की संख्या बहुत अल्प है। उस देश में (भारत में) आलोचना का प्रधान विषय है मायावाद और जीवतत्त्व। मैंने इस देश में आकर देखा कि यहाँ के श्रमिक संसार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भलीभाँति परिचित हैं, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'धर्म कहने से तुम क्या समझते हो, अमुक-अमुक सम्प्रदाय का धर्म-मत किस प्रकार का है', तो उन्होंने कहा, 'ये सब बातें हम नहीं जानते—हम तो बस चर्च में जाते भर हैं।' परन्तु भारत में किसी किसान के पास जाकर यदि मैं पूछूँ कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात मैं नहीं जानता, मैं तो केवल टैक्स (कर) दे देता हूँ।' पर यदि मैं उससे धर्म के विषय में पूछूँ, तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी है, और माया तथा जीवतत्त्व के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जायगा। वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते, परन्तु इन बातों को उन्होंने साधु-संन्यासियों से

सीखा है, और इन विषयों पर विचार करना उन्हें बहुत अच्छा लगता है। दिन-भर काम करने के पश्चात् पेड़ के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वों पर विचार किया करते हैं।

प्रश्न—कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू-धर्म में कट्टरता (orthodoxy) का क्या अर्थ है?

उत्तर—वर्तमान काल में तो खान-पान अथवा विवाह के विषय में जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। फिर वह चाहे जिस किसी धर्म-मत में विश्वास क्यों न करे, कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। भारत में कभी भी कोई नियमित धर्ममण्डली या चर्च नहीं था; इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए संघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नहीं हुई। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो वेदों में विश्वास रखते हैं, वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। पर वास्तव में, देखने में यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायों में से अनेक केवल वेद-विश्वासी न होकर पुराणों में ही अधिक विश्वास रखते हैं।

प्रश्न—आपके हिन्दू-दर्शन ने यूनानियों के स्टोइक दर्शन* पर किस प्रकार प्रभाव डाला था?

उत्तर—बहुत सम्भव है कि उसने सिकन्दरिया-निवासियों द्वारा उस पर कुछ प्रभाव डाला था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पैथागोरस के उपदेशों में सांख्य-दर्शन का प्रभाव विद्यमान

---

* सम्भवतः ईसा से ३०८ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिक जिनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत से, सुख-दुःख, भला-बुरा सब विषयों में समभावसम्पन्न रहना और अविचलित रहकर सबको सहन ही मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ है।

है। जो हो, हमारी यह धारणा है कि सांख्य-दर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्त्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं--

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ॥"

--श्वेताश्वतर उपनिषद्

--"जिन्होंने उन कपिल ऋषि को पहले प्रसव किया था।"

प्रश्न--पाश्चात्य-विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है?

उत्तर--विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य-विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद तथा आकाश और प्राणतत्त्व ठीक आपके आधुनिक दर्शनों के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग और सांख्य-दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए--पतंजलि ने बतलाया है कि प्रकृति के आपूरण के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है--'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'। केवल इसकी व्याख्या के विषय में पतंजलि के साथ पाश्चात्य-विज्ञान का मतभेद है। पतंजलि की परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है। वे कहते हैं--जब एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिए पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है, तो वह बस पानी को रोक रखनेवाले द्वार को खोल भर देता है--'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्'। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्तशक्ति-सम्पन्न है, केवल इन सब विभिन्न अवस्था-चक्ररूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने

मात्र से ही उसकी वह अनन्त-शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। तिर्यक्-योनि में मनुष्यत्व गूढ़ भाव से निहित है; अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानव-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व विद्यमान है, वह अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने को विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, विषयानुभूति की प्रणाली के सम्बन्ध में सांख्य-मत के साथ आधुनिक शारीरविधानशास्त्र (*Physiology*) का बहुत ही थोड़ा मतभेद है।

प्रश्न—परन्तु आप लोगों की ज्ञान-लाभ-प्रणाली भिन्न है।

उत्तर—हाँ, हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। बहिर्विज्ञान में बाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

प्रश्न—एकाग्रता की दशा में क्या इन सब तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आप-ही-आप प्रकट होता है?

उत्तर—योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता-शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य—बाह्य और आन्तर दोनों जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न—अद्वैतवादी सृष्टि-तत्त्व के विषय में क्या कहते हैं?

उत्तर—अद्वैतवादी कहते हैं कि यह सारा सृष्टि-तत्त्व तथा इस संसार में जो कुछ भी है, सब माया के, इस आपात-

प्रतीयमान प्रपंच के अन्तर्गत है। वास्तव में इस सबका कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु जब तक हम बद्ध हैं, तब तक हमें यह दृश्य-जगत् देखना पड़ेगा। इस दृश्य-जगत् में घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु उसके परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति––सम्पूर्ण स्वाधीनता है।

प्रश्न––अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?

उत्तर––उपनिषद् प्रणालीबद्ध रूप से लिखित न होने के कारण जब कभी दार्शनिकों ने किसी प्रणालीबद्ध दर्शनशास्त्र की रचना करनी चाही है, तब उन्होंने इन उपनिषदों में से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रामाणिक वाक्यों को चुन लिया है। इसी कारण सभी दर्शनकारों ने उपनिषदों को प्रमाण-रूप से ग्रहण किया है,––अन्यथा उनके दर्शन को किसी प्रकार का आधार ही नहीं रह जाता। तो भी हम देखते हैं कि उपनिषदों में सब प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हम तो कहते हैं कि चरम-ज्ञान में पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमें से द्वैतवाद एक है। धर्म में सर्वदा तीन सोपान देखने में आते हैं। प्रथम––द्वैतवाद। उसके बाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था में उपस्थित होता है––वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त में उसे यह अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ अभिन्न है। यही चरम-दशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं है, बल्कि वे आपस में एक दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

प्रश्न––माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?

उत्तर––कार्यकारण-संघात की सीमा के बाहर 'क्यों'

का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्याय-शास्त्र के अनुसार यह प्रश्न पूछ सका जाय, तभी हम उसका उत्तर देंगे। उसके पहले उसका उत्तर देने का हमें अधिकार नहीं है।

प्रश्न—सगुण-ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है?

उत्तर—हाँ; पर यह सगुण-ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परिदृश्यमान उस निर्गुण-ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के आधीन होने पर वही निर्गुण-ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है, और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही ईश्वर या सगुण-ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नहीं पहुँचता, तब तक वह सूर्य को क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा, उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न-भिन्न सूर्यों को देख रहा है, परन्तु वास्तव में वह उसी एक सूर्य को देख रहा है, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं, सभी उसी निर्गुण-ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं, इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य हैं। इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।

प्रश्न—उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौनसी है?

उत्तर—हमारे मत में दो प्रणालियाँ हैं। उनमें से एक तो अस्तिभाव-द्योतक या प्रवृत्ति-मार्ग है और दूसरी नास्तिभाव-

द्योतक या निवृत्ति-मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सर्वसाधारण लोग चलते हैं--इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण-वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि प्रेम की परिधि अनन्तगुनी बढ़ा दी जाय, तो हम उसी सार्वजनीन प्रेम में पहुँच जायँगे। दूसरे पथ में 'नेति' 'नेति' अर्थात् 'यह नहीं' 'यह नहीं' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना में चित्त की जो कोई तरंग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है, उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त में मन ही मानो मर जाता है, तब सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। हम इसी को समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण-ज्ञानावस्था कहते हैं।

प्रश्न---तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) में डुबा देने की अवस्था हुई?

उत्तर---विषयी को विषय में नहीं, वरन् विषय को विषयी में डुबा देने की। वास्तव में यह जगत् विलीन हो जाता है, केवल 'मैं' रह जाता हूँ---एकमात्र 'मैं' ही वर्तमान रहता हूँ।

प्रश्न---हमारे कुछ जर्मन-दार्शनिकों का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवतः पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।

उत्तर---इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इस प्रकार का अनुमान एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशों की भक्ति के समान नहीं है। भक्ति के सम्बन्ध में हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमें भय का भाव बिलकुल ही नहीं रहता---रहता है केवल भगवान के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान बिलकुल अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारे प्राचीनतम उपनिषदों तक में विद्यमान हैं और ये उपनिषद् ईसाइयों की बाइबिल से बहुत प्राचीन हैं।

संहिता में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नहीं है। वेद-मन्त्र में 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसी से क्रमशः भक्तिवाद का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में भारतवासियों की क्या धारणा है?

उत्तर—बड़ी अच्छी धारणा है। वेदान्त सभी को ग्रहण करता है। दूसरे देशों की तुलना में भारत में हमारी धर्म-शिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए, मेरे एक लड़का है। मैं उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नहीं दूँगा, मैं उसे प्राणायाम सिखाऊँगा, मन को एकाग्र करना सिखाऊँगा और थोड़ी-बहुत सामान्य प्रार्थना की शिक्षा दूँगा; परन्तु वैसी प्रार्थना नहीं, जैसी आप समझते हैं, वरन् इस प्रकार की कुछ प्रार्थना—'जिन्होंने इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, मैं उनका ध्यान करता हूँ—वे मेरे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें।' * इस प्रकार उसकी धर्म-शिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों एवं आचार्यों के मत सुनता रहेगा। उनमें से जिनका मत वह अपने लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझेगा, उन्हीं को वह गुरु-रूप से ग्रहण करेगा और वह स्वयं उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है; अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

"हमारी मूल बात यह है कि आपका मत मेरे लिए तथा मेरा मत आपके लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्रत्येक का साधन-पथ भिन्न-भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि मेरी

---

* ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

लड़की का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, मेरे लड़के का दूसरे प्रकार का, और मेरा इन दोनों से बिलकुल भिन्न प्रकार का। अतः प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न-भिन्न हो सकता है,—और सब लोग अपने-अपने साधन-मार्ग की बातें गुप्त रखते हैं। अपने साधन-पथ के विषय में केवल मैं जानता हूँ और मेरे गुरु—किसी तीसरे व्यक्ति को यह नहीं बताया जाता; क्योंकि हम दूसरों से वृथा विवाद करना नहीं चाहते। फिर, इसे दूसरों के पास प्रकट करने से उनका कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक को ही अपना-अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसी लिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारणोपयोगी दर्शन और साधना-प्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। एक दृष्टान्त लीजिए—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए, एक पैर पर खड़े रहने से शायद मेरी उन्नति में कुछ सहायता होती हो; परन्तु इसी कारण यदि मैं सभी को एक पैर पर खड़े होने का उपदेश देने लगूँ, तो क्या यह हँसी की बात न होगी? हो सकता है कि मैं द्वैतवादी होऊँ और मेरी स्त्री अद्वैतवादी। मेरा कोई लड़का, इच्छा करे तो ईसा, बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है, वे उसके इष्ट हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।"

प्रश्न—क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है?

उत्तर—उन्हें बाध्य होकर जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। उनका भले ही उनमें विश्वास न हो, पर तो भी वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।

प्रश्न—इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं?

उत्तर—हाँ; पर कोई-कोई लोग बहुत थोड़ा करते हैं—धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन न करने के लिए जितना करना पड़ता है, बस उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे तो कल ही सारे मन्दिर गायब हो जायँ, तो भी लोगों को उनका अभाव महसूस नहीं होगा। स्वर्ग की इच्छा से, पुत्र की इच्छा से, अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग मन्दिर बनवाते हैं। हो सकता है, किसी ने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी नियुक्त कर दिया; पर मुझे वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मेरा जो कुछ पूजा-पाठ है, वह मेरे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है, जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहते हैं। दीक्षा-ग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा-सन्ध्या-वन्दनादि। उसकी इस पूजा या उपासना का अर्थ है—प्राणायाम, ध्यान तथा किसी मन्त्र-विशेष का जाप। और एक बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है; वह है—साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपना पूजा-पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी-अपनी पूजा करके चले जाते हैं। कभी-कभी एक ही कमरे में तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते हैं, परन्तु उनमें से हर एक की उपासना-प्रणाली भिन्न-भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा तिदिन कम-से-कम दो बार करनी पड़ती है।

प्रश्न—आपने जिस अद्वैत-अवस्था के बारे में कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है, अथवा वास्तव में किसी ने यह अवस्था प्राप्त भी की है?

उत्तर—हम तो इस अवस्था को प्रत्यक्ष का ही विषय जानते हैं—हम कहते हैं कि यह अवस्था प्रत्यक्ष उपलब्धि करने का ही विषय है। यदि वह केवल थोथी बात हो, तब तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदों में तीन उपाय बतलाये गये हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्मतत्त्व के विषय में पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा—आँखें मूँदकर विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार करके समझ-बूझकर उस पर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्यस्वरूप पर विचार करके उसके निरन्तर ध्यान में नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार कर लेना धर्म का अंग नहीं है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।

प्रश्न—यदि आप कभी इस समाधि-अवस्था को प्राप्त कर लें, तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे?

उत्तर—नहीं; परन्तु समाधि-अवस्था या पूर्ण-ज्ञान की अवस्था प्राप्त हुई है या नहीं, इस बात को हम जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते हैं। एक मूर्ख व्यक्ति जब सोकर उठता है, तो वह पहले जैसा मूर्ख था, अब भी वैसा ही मूर्ख रहता है; शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब कोई व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, तो वहाँ

से उत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसी से स्पष्ट है कि ये दोनों अवस्थाएँ कितनी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न—मैं प्राध्यापक ×× के प्रश्न का सूत्र पकड़ते हुए यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप ऐसे लोगों के विषय में जानते हैं, जिन्होंने आत्म-सम्मोहन-तत्त्व (Self-hypnotism) का कुछ अध्ययन किया है? अवश्य ही प्राचीन भारत में इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखायी नहीं देती। मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो लोग आजकल उसकी चर्चा और साधना करते हैं, उनका इस विद्या के विषय में क्या कहना है, और वे इसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं।

उत्तर—आप पाश्चात्य देश में जिसे सम्मोहन-विद्या (Hypnotism) कहते हैं, वह तो असली व्यापार का एक सामान्य अंग मात्र है। हिन्दू लोग उसे 'आत्मापसम्मोहन' (Self-de-hypnotisation) कहते हैं। वे कहते हैं, आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotised) हैं—इस सम्मोहित-भाव को दूर करना होगा, विगत-मोह (de-hypnotised) होना होगा।—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र, तारका, विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! उन्हीं के प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है।'

"यह तो सम्मोहन (hypnotism) नहीं है--यह तो अपसम्मोहन या विगत-मोहीकरण (de-hypnotisation) है। हम कहते हैं कि वह प्रत्येक धर्म, जो इस प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देता है, एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग कर रहा है। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे हैं, जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही समझते हैं कि सभी प्रकार के द्वैतवाद से सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है। इसी लिए अद्वैतवादी कहते हैं, 'वेदों को भी अपरा-विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ, सगुण-ईश्वर के भी परे चले जाओ, सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को भी दूर फेंक दो, इतना ही नहीं, अपने शरीर-मन आदि को भी पार कर जाओ--कुछ भी शेष न रहने पाये, तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त होओगे।'

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥'

--'मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।' यही अपसम्मोहन है।

'न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥'

--'मेरे न कोई पुण्य है, न पाप; न सुख है, न दुःख; मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ, वेद या यज्ञ कुछ भी नहीं है। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नहीं हूँ--मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मंगलस्वरूप) हूँ।'

"हम लोग सम्मोहन-विद्या के सारे तत्त्व जानते हैं। हमारी जो मनस्तत्त्व-विद्या है, उसके विषय में पाश्चात्य देशवालों ने हाल ही में थोड़ा-थोड़ा जानना प्रारम्भ किया है; परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं।"

प्रश्न—आप लोग 'ऐस्ट्रल बॉडी' (Astral body) किसे कहते है?

उत्तर—हम उसे लिंग-शरीर कहते हैं। जब इस देह का नाश होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है? जड़-भूत को छोड़कर शक्ति नहीं रह सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म-भूत का कुछ अंश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ इस सूक्ष्म-भूत की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती हैं; क्योंकि प्रत्येक ही अपनी-अपनी देह बना रहा है—मन ही शरीर को तैयार करता है। यदि मैं साधु बनूँ, तो मेरा मस्तिष्क साधु के मस्तिष्क में परिणत हो जायगा। योगी कहते हैं कि वे इसी जीवन में अपने शरीर को देवशरीर में परिणत कर सकते हैं।

"योगी अनेक चमत्कार दिखाते है। ढेर कोरे मतवादों की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य बहुत अधिक है। अतएव मुझे यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक-अमुक बातें घटती मैंने नहीं देखीं इसलिए वे मिथ्या हैं। योगियों के ग्रन्थों में लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के बड़े अद्भुत फलों की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल में ही थोड़े-बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमें कुछ कपट या धोखेबाजी नहीं है। और इन सब शास्त्रों में जिन अलौकिक बातों का उल्लेख

है, योगी वैज्ञानिक रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि संसार की सभी जातियों में इस प्रकार के अलौकिक कार्यों का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया? जो व्यक्ति कहता है कि ये सब मिथ्या हैं, अतः इनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं, उसे युक्तिवादी विचारक नहीं कहा जा सकता। जब तक आप उन बातों को भ्रमात्मक प्रमाणित नहीं कर सकते, तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है, तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर, योगी कहते हैं कि ये सब व्यापार वास्तव में अद्भुत नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज भी अनेक अद्भुत घटनाएं होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कोई भी किसी अप्राकृतिक शक्ति द्वारा नहीं घटती। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो, यदि वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना करने के प्रयत्न को छोड़कर इस दिशा में अधिक और कुछ न हुआ हो, तो भी इसका सारा श्रेय योगियों को ही देना चाहिए।"

प्रश्न—योगी क्या-क्या चमत्कार दिखा सकते हैं, इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?

उत्तर—योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए जितने विश्वास की आवश्यकता होती है, योग-विद्या के निमित्त उससे अधिक विश्वास की जरूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है, उससे

अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं, उनमें से निम्नतर कुछ कार्यों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है; अतः मैं इस पर अविश्वास नहीं कर सकता कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति कर उनकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना। मैं एक योगी को जानता हूँ, जिन्हें एक बड़े विषैले सर्प ने काट लिया था। सर्पदंश होते ही वे बेहोश हो जमीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे होश में आये। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था, तो वे बोले, 'मेरे प्रियतम के पास से एक दूत आया था'। इन महात्मा की सारी घृणा, क्रोध और हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध हो चुका है। कोई भी चीज उन्हें बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकती। वे सर्वदा अनन्त-प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम की शक्ति से सर्वशक्तिमान हो गये हैं। बस ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ योगी है, और यह सब शक्तियों का विकास—अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना—गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो गुलाम हैं—खाने-पीने के गुलाम, अपनी स्त्री के गुलाम, अपने लड़के-बच्चों के गुलाम, रुपये-पैसे के गुलाम, स्वदेशवासियों के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जनवायु के गुलाम, इस संसार के हजारों विषयों के गुलाम! जो मनुष्य इन बन्धनों में से किसी में भी नहीं फँसे, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं—यथार्थ योगी हैं।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'

--'जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं संसार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।'

प्रश्न--क्या योगी जाति-भेद को विशेष आवश्यक समझते हैं?

उत्तर--नहीं, जाति-विभाग तो उन लोगों को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।

प्रश्न--इस समाधि-तत्त्व के साथ भारत की गरम जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नहीं है?

उत्तर--मैं तो ऐसा नहीं समझता। कारण, समुद्र-धरातल से पन्द्रह हजार फीट की ऊँचाई पर, सुमेरु के समान जलवायु-वाले हिमालय में ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था।

प्रश्न--ठण्डी जलवायु में क्या योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है?

उत्तर--हाँ, अवश्य हो सकती है। और संसार में इसकी प्राप्ति जितनी सम्भव है, उतनी सम्भव और कुछ भी नहीं है। हम कहते हैं, आप लोग--आपमें से प्रत्येक, जन्म से ही वैदान्तिक है। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। जब कभी आपका हृदय सारे संसार के कल्याण के लिए छूटता है, तभी आप अनजान में सच्चे वेदान्तवादी हो जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं, पर यह नहीं जानते कि आप क्यों नीतिपरायण हो रहे हैं। एकमात्र वेदान्त-दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेषण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वह सब धर्मों का सारस्वरूप है।

प्रश्न—आपके मत में क्या हम पाश्चात्यों में ऐसा कुछ असामाजिक भाव है, जिसके कारण हम इस तरह द्वैतवादी और भेदपरायण बन रहे हैं, और जिसके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं?

उत्तर—मेरे मत में, पाश्चात्य-जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है, और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दया-सम्पन्न हैं। परन्तु इसका कारण यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसी के स्वभाव को दयालु बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। आपमें शक्ति काफी है, परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उस मात्रा में हृदय का विकास नहीं हो पा रहा है। विशेषकर मनःसंयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्त-प्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा। पर भारतवासियों के प्रत्येक रक्त-बिन्दु में यह भाव प्रवाहित हो रहा है। यदि मैं भारत के किसी गाँव में जाकर वहाँ के लोगों को राजनीति की शिक्षा देना चाहूँ, तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि मैं उन्हें वेदान्त का उपदेश दूँ, तो वे कहेंगे, 'हाँ, स्वामीजी, अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं।' आज भी भारत में सर्वत्र यह वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है। आज हमारा बहुत पतन हो गया है, परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक है कि राजा भी अपने राज्य को त्यागकर, साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा।

"कहीं-कहीं पर गाँव की एक साधारण लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—मुझे द्वैतवाद का उपदेश

मत सुनाओ, मेरा चरखा तक 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह रहा है। इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोहं' कहते हो, तो फिर उस पत्थर को प्रणाम क्यों करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे, 'आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवाद मात्र है, पर हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं।' उनमें से कोई शायद कहेगा, 'मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी होऊँगा, जब सारा संसार मेरे सामने से अन्तर्हित हो जायगा, जब मैं सत्य के दर्शन कर लूँगा। जब तक मैं उस स्थिति में नहीं पहुँचता, तब तक मुझमें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि मैं प्रस्तर मूर्ति की उपासना कर रहा हूँ, मन्दिर में जाता हूँ, जिससे मुझे प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। मैंने वेदान्त का श्रवण किया तो है, पर मैं अब उस वेदान्त-प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व को देखना चाहता हूँ—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहता हूँ।'

'वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥'
—श्रीशंकराचार्य

—'धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यों की योजना, शास्त्रों की व्याख्या करने के नाना प्रकार के कौशल—ये केवल पण्डितों के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्तिलाभ की कोई सम्भावना नहीं है।' ब्रह्म के साक्षात्कार से ही हमें उस मुक्ति की प्राप्ति होती है।"

प्रश्न—आध्यात्मिक विषय में जब सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता है, तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जाति-भेद का मानना मेल खाता है?

उत्तर—कदापि नहीं। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नहीं रहना चाहिए; इतना ही नहीं, बल्कि जो लोग भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई बहुत उच्च स्तर की चीज नहीं है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमें दो, तो हम इसे छोड़ देंगे। वे पूछते हैं कि तुम इसके बदले हमें क्या दोगे? जाति-भेद कहाँ नहीं है बोलो? आप भी तो अपने देश में इसी प्रकार के एक जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हैं। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ संग्रह कर लेता है, तो वह कहने लगता है कि मैं भी तुम्हारे चार-सौ धनिकों में से एक हूँ। केवल हमीं लोग एक स्थायी जाति-विभाग का निर्माण करने में सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जाति-विभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे सफल नहीं हो पा रहे हैं। यह सच है कि हमारे समाज में काफी कुसंस्कार और बुरी बातें हैं; पर क्या आपके देश के कुसंस्कारों तथा बुरी बातों को हमारे देश में प्रचलित कर देने से ही सब ठीक हो जायगा? जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड़ लोगों को खाने के लिए रोटी का एक टुकड़ा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमें अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मजबूत दीवालों की सृष्टि हुई थी, जो शत-शत बाहरी चढ़ाइयों के बावजूद भी नहीं गिरीं। आज भी वह प्रयोजन मिटा नहीं है, इसी लिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात-सौ वर्ष पहले

जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नहीं है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ़ होता गया। क्या आप यह नहीं जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करने अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं गया? महान् सम्राट् अशोक यह विशेष रूप से कह गये थे कि उनके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र-विजय के लिए प्रयत्न न करें। यदि कोई अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारक भेजना चाहती है, तो भेजे; पर वह हमारी वास्तविक सहायता ही करे, जातीय सम्पत्तिस्वरूप हमारा जो धर्म-भाव है, उसे क्षति न पहुँचावे। ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू-जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आयीं? क्या हिन्दुओं ने अन्य जातियों का कुछ अनिष्ट किया था? बल्कि जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने संसार का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान, दर्शन और धर्म की शिक्षा दी, तथा संसार की अनेक असभ्य जातियों को सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में उनको क्या मिला?——रक्तपात! अत्याचार!! और दुष्ट 'काफिर' यह शुभनाम!!! वर्तमान काल में भी, पाश्चात्य व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर देखिए तथा वहाँ (भारत में) भ्रमण करने के लिए जो लोग गये थे, उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को पढ़िए। आप देखेंगे, उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन' कहकर गालियाँ दी हैं। मैं पूछता हूँ, भारत-वासियों ने ऐसा कौनसा अनिष्ट किया है, जिसके प्रतिशोध में उनके प्रति इस प्रकार की लांछनपूर्ण बातें कही जाती हैं?

प्रश्न——सभ्यता के विषय में वेदान्त की क्या धारणा है?

उत्तर——आप दार्शनिक लोग हैं——आप यह नहीं मानते

कि रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य-मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्रय की समस्या को हल नहीं कर सके, बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यन्त्रों की सहायता से 'दारिद्रय-समस्या' का कभी समाधान नही हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है, तो आप उसी समय उसका स्मारक बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। क्यो? क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नही है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी, तो उससे क्या लाभ? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायाम-शाला के सदृश है—इसमें जीवात्मा-गण अपने-अपने कर्म के द्वारा अपनी-अपनी उन्नति कर रहे हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः, किस विषय में भगवान का कितना प्रकाश है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिए। सभ्यता का अर्थ है मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।

प्रश्न—क्या बौद्धों में भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है?

उत्तर—बौद्धों में कभी कोई विशेष जाति-विभाग नहीं था, और भारत में बौद्धों की संख्या भी बहुत थोड़ी है। बुद्ध एक समाज-सुधारक थे। फिर भी मैंने बौद्ध देशों में देखा है, वहाँ जाति-विभाग की सृष्टि करने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं, पर उसमें सफलता नहीं मिली। बौद्धों का जाति-विभाग वास्तव में नहीं-जैसा ही है, परन्तु मन-ही-मन वे स्वयं को उच्च जाति मानकर गर्व करते हैं।

"बुद्ध एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये-नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध-धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे—उन्होंने इन भावों में शक्ति का संचार कर दिया था। बौद्ध-धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सदा से हमारे आचार्य रहे हैं। उपनिषदों में से अधिकांश तो क्षत्रियों द्वारा ही रचे गये हैं, और वेदों का कर्मकाण्ड-भाग ब्राह्मणों द्वारा। समग्र भारत में हमारे जो बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं, उनमें से अधिकांश क्षत्रिय थे, और उनके उपदेश भी बड़े उदार और सार्वजनीन हैं; परन्तु केवल दो ब्राह्मण-आचार्यों को छोड़कर शेष सब ब्राह्मण-आचार्य अनुदारभावसम्पन्न थे। भगवान के अवतार के रूप में पूजे जानेवाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।"

प्रश्न—सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्त्व की उपलब्धि में सहायक हैं?

उत्तर—तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ

छोड़ देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वहीं तक उपयोगिता है, जहाँ तक वे उस पूर्णत्व की अवस्था में पहुँचने के लिए सहायक है। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नहीं मिल पाती, तब अवश्य उनमें परिवर्तन करना चाहिए।

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥'

—अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए और न उनकी अपनी-अपनी साधन-प्रणाली में उनके विश्वास को नष्ट ही करना चाहिए; बल्कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको ठीक-ठीक मार्ग प्रदर्शित करे, जिससे वे उस अवस्था में पहुँच जायें, जहाँ वह स्वयं पहुँचा हुआ है।

प्रश्न—वेदान्त व्यक्तित्व (Individuality) * और नीति की व्याख्या किस प्रकार करता है?

उत्तर—प्रकृत अविभाज्य व्यक्तित्व ही वह पूर्ण ब्रह्म है—माया द्वारा उसने पृथक्-पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का बोध हो रहा है, पर वास्तव में वह सदैव वही पूर्ण-ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में सत्ता एक

* अँगरेज़ी के Individual शब्द में 'अ-विभाज्य' और 'व्यष्टि' दोनों भाव निहित हैं। स्वामीजी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही यथार्थ Individual है', तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् अवयव-प्रत्यवयहीन अविभाज्यता को ही वे लक्ष्य करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक्-पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं।

ही है, पर माया के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। यह समस्त भेद-बोध माया में है। पर इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की चेष्टा चली हुई है। प्रत्येक जाति की नीति के भीतर यही चेष्टा अभिव्यक्त हुई है, क्योंकि यह तो जीवात्मा का स्वभावगत प्रयोजन (constitutional necessity) है। वह इस प्रकार की चेष्टा द्वारा उसी एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहा है—और एकत्व-लाभ की इस चेष्टा को ही हम नीति कहते हैं। इसी लिए हमें सर्वदा नीतिपरायण होना चाहिए।

प्रश्न—नीति का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही लेकर नहीं है?

उत्तर—नीति पूरी यही है। पूर्ण-ब्रह्म कभी भी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

प्रश्न—आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्ण-ब्रह्म हूँ—मैं आपसे पूछनेवाला था कि इस 'मैं' या 'अहं' के कोई ज्ञान रहता है या नहीं?

पूर्ण-अवस्था से सब प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति की जा सकती है। इस पूर्ण-अवस्था को अतिज्ञान, ज्ञानातीत या पूर्ण-ज्ञान की अवस्था कहते हैं—साधारण-ज्ञान और अज्ञान दोनों उसके अन्तर्गत हैं। जो व्यक्ति इस पूर्ण-ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेता है, उसमें यह सापेक्ष साधारण ज्ञान भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। जब वह ज्ञान की इस दूसरी अवस्था अर्थात् हमारी परिचित सापेक्ष ज्ञानावस्था का अनुभव करना चाहता है, तो उसे एक सीढ़ी नीचे उतर आना पड़ता है। यह सापेक्ष-ज्ञान एक निम्नतर अवस्था है—केवल माया के भीतर ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

---

२८. चिन्तनीय बातें १)
२९. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
३०. जाति, संस्कृति और समाजवाद १)
३१. स्वाधीन भारत ! जय हो ! (द्वि. सं.) १)
३२. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।=)
३३. भारतीय नारी (तृ. सं.) ।।।)
३४. शिक्षा (तृ. सं.) ।।=)
३५. कवितावली (द्वि. सं.) ।।=)
३६. शिकागो-वक्तृता (प.सं.)।।=)
३७. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।=)
३८. मेरे गुरुदेव (पं. सं.) ।।=)
३९. शक्तिदायी विचार (तृ. सं.) ।।=)
४०. मेरी समरनीति (द्वि. सं.) ।।=)
४१. विवेकानन्दजी के उद्गार ।।=)
४२. हमारा भारत ।।)
४३. वर्तमान भारत (न. सं.) ।।)
४४. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
४५. पवहारी बाबा (द्वि.सं.) ।।)
४६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
४७. सरल राजयोग ।।)
४८. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ (द्वि. सं.) ।=)
४९. ईशदूत ईसा ।=)
५०. विवेकानन्दजी की कथायें (द्वि. सं.) १।)

---

५१. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (द्वि. सं.) ।।।)
५२. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी सारदानन्द, ।=)
५३. गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द, २।=)
५४. साधु नागमहाशय (भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग गृही शिष्य) १।।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १